सुविख्यात सांसद
मोनोग्राफ सीरीज़

डा० बी० आर० अम्बेडकर

लोक सभा सचिवालय
नई दिल्ली
1991

© लोक सभा सचिवालय, 1991

अप्रैल, 1991

मूल्य: 30.00

लोक सभा के प्रक्रिया तथा कार्य संचालन सम्बन्धी नियम (सातवां संस्करण) के नियम, 382 के अधीन प्रकाशित तथा प्रबंधक, फोटो-लिथो एकक, भारत सरकार का मुद्रणालय, मिंटो रोड नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

भारतीय संसदीय ग्रुप ने पिछले वर्ष के आरंभ में उन सुविख्यात नेताओं की जन्म शती और वर्षगांठ मनाने का निर्णय किया था जिन्होंने सांसद के रूप में ख्याति अर्जित की और भारत की संसदीय प्रणाली और राज्य व्यवस्था पर विशेष छाप छोड़ी। इस निर्णय के फलस्वरूप मार्च, 1990 में "सुविख्यात सांसद मोनोग्राफ सीरीज" नामक एक मोनोग्राफ शृंखला आरंभ की गई और डा० राम मनोहर लोहिया, डा० लंका सुन्दरम, डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी, पंडित नीलकंठ दास, श्री पी० गोविन्द मेनन, श्री भूपेश गुप्त, डा० राजेन्द्र प्रसाद, शेख मुहम्मद अब्दुल्ला, श्री सी० डी० देशमुख, श्री जय सुखलाल हाथी और श्री एम० अनन्तशयनम आयंगर के जन्म दिवस पर स्मरणोत्सव मनाने के लिए अब तक ग्यारह मोनोग्राफ प्रकाशित किये जा चुके हैं।

यह बारहवां मोनोग्राफ सुविख्यात संसदविज्ञ, विशिष्ट विधिवेत्ता और दलितों के मसीहा डा० भीमराव रामजी अम्बेडकर, की महती सेवाओं और उल्लेखनीय योगदान को स्मरण करने का एक प्रयास है जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने वाली अन्य महान विभूतियों के साथ मिलकर आधुनिक भारत की नींव रखी और जिनकी देन भारत के संविधान पर हम भारतवासियों को गर्व है।

यह ग्रंथ तीन भागों में विभक्त है। पहले भाग में बाबासाहेब नाम से प्रख्यात— डा० अम्बेडकर का जीवन वृत दिया गया है जिसमें उनके महत्वपूर्ण जीवन और उपलब्धियों पर ध्यान केन्द्रित किया गया। दूसरे भाग में आठ लेख हैं जो उनके समकालीन, निकटस्थ सहयोगियों और उन संसद सदस्यों द्वारा लिखे गये हैं, जिनमें से कुछ उनके अत्यधिक निकट रहे थे और उन्होंने डा० अम्बेडकर को संविधान सभा में कार्य करते हुए देखा था। तीसरे भाग में भारत का संविधान तैयार करते समय संविधान सभा में दिये गये डा० अम्बेडकर के महत्वपूर्ण भाषणों के अंश दिये गये हैं।

भारत के इस महान सपूत की जन्म शती के अवसर पर हम भारत रत्न, डा० बाबासाहेब अम्बेडकर की स्मृति में उन्हें अपनी सादर श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं जिन्होंने लाखों देशवासियों के हृदय में अपना अमिट स्थान बना लिया है। हमें आशा है कि यह मोनोग्राफ रूचिपूर्वक पढ़ा जायेगा।

रवि राय,
अध्यक्ष लोक सभा
और
प्रेसीडेंट, भारतीय संसदीय ग्रुप

नई दिल्ली;
अप्रैल, 1991

विषय सूची

प्राक्कथन

भाग-एक

उनका जीवन

1

डा० बी० आर० अम्बेडकर

जीवन वृत्त

(1)

भाग-दो

लेख

2

डा० बी० आर० अम्बेडकर—मेरी दृष्टि में
प्रो० एन० जी० रंगा

(17)

3

अम्बेडकर और अनुसूचित जातियों के राजनैतिक अधिकार
मुरलीधर सी० भंडारे

(22)

4

डा० बी० आर० अम्बेडकर
एस० निजलिंगप्पा

(32)

5

अम्बेडकरः राष्ट्रीय नेता, विख्यात संसदविज्ञ, प्रमुख संविधान निर्माता
प्रो० पी० जी० मावलंकर

(35)

6

सामाजिक न्याय की खोज में
प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद

(42)

7

डा० अम्बेडकर—एक सामाजिक क्रांतिकारी
श्रीमती रेणुका राय

(50)

8

डा० बी०आर० अम्बेडकर और संविधान सभा और संसद में उनका योगदान
एस० एल० शकधर

(55)

9

बाबा साहेब डा० भीमराव अम्बेडकर : कुछ पुरानी यादें
श्री अक्षय कुमार जैन

(61)

भाग-तीन

उनके विचार
संविधान सभा में डा० बी० आर० अम्बेडकर के चुने हुए भाषणों के उद्धृत अंश

10

एक मजबूत संघीय सरकार के संबंध में

(67)

11

संविधान के मसौदे के संबंध में

(76)

12

आर्थिक प्रजातंत्र का आदर्श तथा नीति निदेशक सिद्धांतों के संबंध में

(101)

13

समान आचार संहिता के संबंध में

(104)

14

न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग करने के संबंध में

(107)

15

सरकारी नौकरियों में समान अवसर दिये जाने के संबंध में

(108)

16

संवैधानिक उपचारों के संबंध में

(112)

17

कार्यपालिका को विधानमंडल और न्यायपालिका से अलग करने के संबंध में

(116)

18

संघीय कार्यपालिका की शक्ति के संबंध में

(118)

19

मंत्रित्व के लिए शर्तों के संबंध में

(124)

20

नागरिकता संबंधी प्रावधान के संबंध में

(131)

21

संविधान संशोधन की प्रक्रिया के संबंध में

(136)

22

संविधान सभा में दिया गया समापन भाषण

(143)

भाग—एक
उनका जीवन

डा० भीमराव रामजी अम्बेडकर — जीवन वृत्त

उन्नीसवीं शताब्दी में जन्मे उन महान सपूतों की आकाशगंगा में, जिन्होंने स्वतंत्र भारत के भाग्य निर्माण में मुख्य भूमिका निभाई और हमारे राष्ट्रीय जीवन तथा राज व्यवस्था पर अमिट छाप छोड़ी, डा० भीमराव रामजी अम्बेडकर एक सितारे की तरह चमकते हैं। हमारे संविधान निर्माता, दलितों के मसीहा और समर्थक, समस्त सामाजिक और आर्थिक विषमताओं के प्रति विद्रोह का झंडा उठाने वाले और महात्मा गांधी के शब्दों में 'सच्चे देशभक्त', डा० अम्बेडकर ख्याति के शिखर पर भाग्य अथवा संयोगवश नहीं बल्कि अपने व्यक्तित्व, संघर्ष, त्याग, निस्वार्थता, विद्वता, समर्पण, निष्ठा और वचनबद्धता के बल पर पहुंचे थे।

डा० भीमराव रामजी अम्बेडकर, जिन्हें उनके लाखों प्रशंसक और अनुयायी स्नेहपूर्वक 'बाबासाहेब' नाम से पुकारते हैं, का जन्म महु, मध्य प्रदेश में 14 अप्रैल, 1891 को हुआ। उनके पिता का नाम रामजी मालौजी संकपाल और माता का भीम बाई था। वे महार समुदाय एक हिन्दू अछूत जाति महार समुदाय के थे। 14 भाई बहनों में सबसे छोटे होने के कारण परिवार के सभी लोग उनसे बड़ा स्नेह रखते थे। उनके पिता रामजी बड़े उद्यमी, धार्मिक और सज्जन पुरुष थे और माता भीमबाई एक स्वावलंबी और कर्त्तव्यपरायण महिला थीं। गरीब होते हुए भी उनके परिवार को पड़ौसी आदर की दृष्टि से देखते थे। सेना में सूबेदार मेजर, रामजी कबीर पंथी भगत थे और सेना के एक कैंप से दूसरे कैंप में स्थानान्तिरत होते रहते थे। अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद, रामजी ने अपने बच्चों का सावधानी और प्यार से पालन-पोषण किया और वह उन्हें भक्तिपूर्ण गीत तथा रामायण और महाभारत जैसे काव्य सुनाया करते थे। घर में इस प्रकार के शुद्ध और धार्मिक वातावरण का ही शायद युवा भीमवार के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप यथा समय उनमें स्वार्थ रहित सेवा, बलिदान, भातृभाव, दृढ़ता और लगन जैसे गुण फलीभूत हुए।

प्रारम्भिक जीवन और शिक्षा

सैनिक सेवा से सेवा-निवृत्त होने के बाद, रामजी कुछ समय दापोली तथा सतारा में रहे और अन्त में बम्बई में बस गए। भीमराव ने, जिन्हें पांच वर्ष की आयु में प्राथमिक पाठशाला भेजा गया था, अपनी प्राथमिक शिक्षा सतारा से पूरी की और उच्च शिक्षा जारी रखी। एक अछूत समुदाय से संबंधित बालक होने के नाते, उन्हें सभी प्रकार के कष्टों, अपमानों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उन्हें आम स्रोत से पानी पीने की अनुमति नहीं थी। उन्हें फारसी का अध्ययन करने पर मजबूर होना पड़ा था क्योंकि संस्कृत के अध्यापक ने उन्हें संस्कृत पढ़ाने से मना कर दिया था। हालांकि उन्होंने बाद में संस्कृत भाषा सीखी। वातावरण दूषित होने के भय से न तो उनकी कापियों की जांच की जाती थी और न ही उनसे कोई प्रश्न ही पूछे जाते थे। इन सभी चुनौतियों से विचलित न होकर वह बम्बई में आए और ऐलफीनस्टोन हाई स्कूल में प्रवेश ले लिया। दुर्भाग्यवश, वहां भी उन पर "मुझे मत छूना" वाली नीतियां लागू की गई।

वर्ष 1955 में, उस समय हिन्दू समाज में व्याप्त परम्परा के अनुसार, भीमराव जिनकी उस समय आयु केवल 14 वर्ष थी, का 9 वर्ष की लड़की रामाबाई से जोकि महार समुदाय से थी, विवाह कर दिया गया। उसने एक पुत्र को जन्म दिया लेकिन 1938 में रामाबाई की मृत्यु हो गई। वर्ष 1948 में भीमराव ने बम्बई के सारस्वत ब्राह्मण की लड़की डा० शारदा कबीर (बाद का नाम सविता) से दूसरी शादी की।

वर्ष 1907 में, भीमराव ने मैट्रिक की परीक्षा पास की। "महार लड़के" की इसे एक शानदार सफलता मानते हुए, इस समुदाय ने एक कार्यक्रम का आयोजन किया और इसके सदस्यों में से एक ने उन्हें "कि लाइफ ऑफ गौतम बुद्ध" की एक प्रति भेंट की। इस पुस्तक से भीमराव के जीवन पर भारी प्रभाव पड़ा जैसाकि उनके जीवन में बाद में हुई घटनाओं से पता चलता है।

भीमराव की शिक्षा में रुचि और कठिन परिश्रम के प्रति उनकी ईमानदारी और उत्साह को देखते हुए, बड़ौदा के महाराजा, सयाजी राव गायकवाड़ ने न केवल उनके स्नातक तक अध्ययन के दौरान 25 रुपए प्रतिमाह छात्रवृत्ति मंजूर की बल्कि उन्हें स्नातक की उपाधि प्राप्त करने के बाद अपने राज्य में नौकरी करने के लिए भी आमंत्रित किया। हालांकि उन्होंने वहां नौकरी शुरु की, लेकिन वह खुश नहीं थे क्योंकि सामाजिक चुनौतियों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। और उनके लिए यह दुर्भाग्यपूर्ण था। तब महाराजा ने भीमराव को गायकवाड़ छात्र के रूप में कोलम्बिया विश्वविद्यालय में इस शर्त पर भेजा कि वापसी पर वह इस राज्य में नौकरी करेंगे।

कोलम्बिया में, भीमराव जाति के कलंक से मुक्त थे और वह समानता के दर्जे के

आधार पर इधर-उधर आ जा सकते थे। इस विश्वविद्यालय में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० सेलिगमैन उनके अध्यापक थे। शैक्षिक माहौल मुक्त वातावरण और पुस्तकों के प्रति लगाव ने भीमराव के मस्तिष्क स्तर को विशाल बना दिया। इस समय के दौरान वह पक्के राष्ट्रवादी, लाला लाजपतराय के सम्पर्क में आए, जो उस समय अमरीका में निर्वासित जीवन बिता रहे थे। वे दोनों भारत में स्वतंत्रता संघर्ष के बारे में चर्चा किया करते थे। इस तरह भीमराव ने विद्यार्थी होते हुए देशभक्ति के विचारों और आदर्शों तथा पश्चिमी उदारवादी लोकतांत्रिक विचारों को आत्मसात कर लिया था जिन्होंने उसे सशक्त राष्ट्रवादी और मानवीय अधिकारों तथा प्रतिष्ठा का प्रबल समर्थक बना दिया।

वर्ष 1915 में उन्होंने अपने शोध विषय "एनसिऐंट इंडियन कामर्स" के लिए एम० ए० (इकनोमिक्स) की डिग्री प्राप्त की। उससे अगले वर्ष उन्होंने एन्थ्रोपालोग्जी सेमिनार में "दि कास्ट्स इन इंडिया", "देअर मेकेनिज़्म", "जेनेसिस एण्ड डेवलपमेंट" शीर्षक से समाचार पत्र पढ़ा। इस समाचार पत्र में उन्होंने इस बात का उल्लेख किया था कि संजातीय विवाह ही जातियों का सार था। उन्होंने यह कहा कि "एक जाति" "एक संलग्न श्रेणी है और यह मनु के पूर्व भी विद्यमान थी।" वर्ष 1916 में उन्हें उनके शोध विषय "नेशनल डिविडेंड फार इंडिया: एक हिसटोरिक एण्ड एनालिटिकल स्टडी" के लिए पी० एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई।

उसी वर्ष डा० अम्बेडकर ने "लन्दन स्कूल ऑफ इकनोमिक्स एण्ड पोलिटिकल साइंस" में प्रवेश ले लिया था। उन्होंने प्रसिद्ध "ग्रेस इन फार ला" में भी प्रवेश ले लिया। यद्यपि वह अपना अध्ययन जारी नहीं रख सके क्योंकि महाराजा ने उनको वापस बुला लिया और उन्हें राज्य के वित्त मंत्री के पद पर तैयार करने की धारणा से अपना सचिव नियुक्त कर दिया था। लेकिन भाग्य को कुछ और ही मंजूर था। डा० अम्बेडकर में इस बात के लिए व्याकुलता और निराशा थी कि उनके शैक्षिक, विशिष्टता और विद्वता तथा राज्य में उच्च पद पर आसीन होने के बावजूद भी भारत में सामाजिक परिस्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं आया। उनके अपने अधीनस्थ कर्मचारी उनसे अच्छा व्यवहार नहीं करते थे। हालांकि डा० अम्बेडकर ने यह बात महाराजा को बताई थी लेकिन उनके लिए कुछ नहीं किया जा सका। फिर भी, महाराजा उन पर इतने दयालु थे कि डा० अम्बेडकर द्वारा विदेश से अपनी शिक्षा के बाद राज्य में नौकरी करने के लिए दिए गए अनुबन्ध-पत्र के बावजूद भी नौकरी के कुछ महीनों बाद ही उन्हें सेवा से मुक्त कर दिया था।

एक वर्ष के संघर्ष के बाद डा० अम्बेडकर ने बम्बई के एक कालेज में राजनीतिक विज्ञान के एक प्रोफेसर के रूप में नौकरी शुरू कर दी। केवल पांच महीने पढ़ाने के बाद, वह अपने अध्ययन को जारी रखने के लिए लन्दन चले गए। उनके इस उद्देश्य को पूरा

करने में कोल्हापुर के प्रबुद्ध महाराजा ने उनकी सहायता की। उन्होंने विधिवक्ता बनने के लिए 'दि लन्दन स्कूल आफ इकनोमिक्स एण्ड पोलिटिकल साइंस' और 'ग्रेज इन' दोनों में पुनः प्रवेश लिया। उनके शोध विषय "प्रोविनशियल डीसेन्ट्रेलाइजेशन आफ इम्पीरियल फाइनेंस इन ब्रिटिश इंडिया" को लन्दन विश्वविद्यालय द्वारा एम० एस० सी० (इकनोमिक्स) की उपाधि देने के लिए स्वीकार किया गया। वर्ष 1923 में जर्मनी में बोन विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें उनके शोध विषय "दी प्रोब्लम ऑफ दी रूपीः इट्स ओरिजन एण्ड सोल्यूशन" के लिए डाक्टर आफ साइंस (इकनोमिक्स) की उपाधि से सम्मानित किया गया। अपने शिक्षा-संबंधी कार्यों में व्यस्त रहने के बावजूद, उनके मन में देश के सामाजिक दृष्टि से पददलित लोगों के प्रति तीव्र भावनाएं होने के कारण उन्होंने अस्पृश्य लोगों की दयनीय स्थिति एवं समस्याओं के बारे में भारत के विदेश मंत्री, श्री ई० एस० मांटेग्यू तथा श्री विट्ठल भाई पटेल से बातचीत के लिए समय निकाला।

वकील के रूप में

अनेक ख्यातिप्राप्त विदेशी विश्वविद्यालयों के क्रमिक शैक्षिक उपलब्धियां ग्रहण करने के पश्चात जून, 1923 में डा० अम्बेडकर भारत लौटे तथा बम्बई न्यायपालिका के उच्च न्यायालय में वकालत आरंभ की। उन्होंने वकालत इसलिए आरंभ की क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि वे अस्पृश्य लोगों की सामाजिक-आर्थिक उन्नति के लिए कार्य करने के अपने ध्येय को इसी स्वतंत्र व्यवसाय के माध्यम से पूरा कर सकते थे। साथ ही, इससे उनकी व्यक्तिगत आजीविका भी सुनिश्चित होती थी। किन्तु उच्च न्यायालय में भी, जिसे न्याय का मन्दिर कहा जाता है, डा० अम्बेडकर को उनकी जाति के कारण अपमानित होना पड़ा। वकीलों में अस्पृश्यता की भावना होने के कारण उनके साथ वे कोई व्यवसाय-संबंधी बातचीत नहीं करते थे। यहां तक कि कैंटीन में काम करने वाला लड़का भी उन्हें चाय नहीं देता था। इस प्रकार, एक अस्पृश्य व्यक्ति होने के कारण, उनमें असाधारण विधि-संबंधी कुशाग्रता होने के बावजूद, वे वकालत के व्यवसाय में फल-फूल नहीं सके। उन्हें "निर्धनों का बैरिस्टर" कहा जाता था।

सामाजिक असमानता के प्रति विद्रोही के रूप में

अपमान, अनादर और घोर भेदभाव ने उनके इस निश्चय को बल प्रदान किया कि उन्हें अपने लोगों को सामाजिक दासता की बेड़ी से मुक्त कराना है। उनके आगमन से सामाजिक अन्याय और असमानता के विरुद्ध विद्रोह को बढ़ावा मिला। उन्होंने अपने साथियों को अपने मन से ऊंच-नीच की भावना को निकाल देने की अपील की। डा० अम्बेडकर ने शोषित वर्ग के लोगों में जागृति पैदा करने के लिए जोरदार प्रयास किए। उन्होंने संगठन बनाकर, राजनीतिक दल गठित करके तथा समाचार-पत्र और साप्ताहिक

आरंभ करके अस्पृश्य लोगों को एकता के सूत्र में बांधने का प्रयास किया ताकि उनके लक्ष्य के प्रति समर्थन जुटाया जा सके। 1920 में, उन्होंने एक मराठी पाक्षिक "मूकनायक" (गूंगों का नेता) आरंभ किया। इससे पहले 1918 में, जब सरकार ने वयस्क मताधिकार संबंधी साउथबोरों रिफार्म्ड (फरेन्चाईज़) कमेटी का गठन किया, तो डा० अम्बेडकर को साक्ष्य देने के लिए बुलाया गया। उन्होंने दृढ़तापूर्वक शोषित वर्ग के लोगों के लिए एक अलग निर्वाचक मंडल की मांग की, लेकिन उसे स्वीकार नहीं किया गया।

अस्पृश्यता के विरुद्ध अपना संघर्ष आरंभ करने के लिए डा० अम्बेडकर ने 1924 में बम्बई में अस्पृश्य लोगों की नैतिक एवं भौतिक प्रगति के लिए "बहिष्कृत हितकारिणी सभा" नाम से एक संगठन की स्थापना की।

अस्पृश्य लोगों के लिए सामाजिक न्याय प्राप्त करने के लिए मात्र उपदेश एवं लेखन से संतुष्ट न होने के कारण डा० अम्बेडकर ने भी आन्दोलन का रास्ता अपनाया। दिसम्बर, 1927 में उन्होंने कोलाबा जिले के महद में अस्पृश्य लोगों के लिए एक सार्वजनिक तालाब "चावाडोर तलेन" से पानी लेने के नागरिक अधिकार प्राप्त करने के लिए एक सत्याग्रह का नेतृत्व किया। बाद में, एकत्रित लोगों को सम्बोधित करते हुए डा० अम्बेडकर ने कहा कि अस्पृश्य लोगों की आत्म-उन्नति केवल अपनी सहायता आप करने, आत्म-सम्मान को पुनः प्राप्त करने एवं आत्म-ज्ञान प्राप्त करने में ही निहित है। उन्होंने लोगों का सेना, नौसेना और पुलिस में उनके प्रवेश पर सरकारी रोक के विरुद्ध आन्दोलन करने का आह्वान किया तथा स्कूलों, कालेजों और सरकारी सेवाओं में प्रवेश करने की आवश्यकता पर जोर दिया। लगभग इसी समय से अस्पृश्य लोगों की स्थिति में सुधार सम्बन्धी आन्दोलन ने एक संघर्ष का रास्ता अख्तियार कर लिया। इस प्रकार, शोषित वर्ग के लोगों को डा० अम्बेडकर में एक नये मसीहा और एक विद्रोही की छवि दिखाई दी थी।

वर्ष 1927 में, उन्होंने शोषित वर्ग के लोगों की समस्याओं को जनता के सामने लाने के लिए "बहिष्कृत भारत" नामक एक अन्य मराठी पाक्षिक का आरंभ किया। इसी वर्ष, उन्होंने शोषित वर्ग के लोगों एवं सवर्ण हिन्दुओं के बीच सामाजिक समानता का पाठ पढ़ाने के लिए "समाज समता संघ" नाम से एक संगठन की स्थापना की। उक्त संगठन के कार्यक्रम में अन्य बातों के अलावा अन्तर्जातीय विवाह एवं अन्तर्जातीय भोज को भी शामिल किया गया था।

वर्ष 1929 में, जब साइमन कमीशन ने भारत का दौरा किया, यद्यपि कांग्रेस ने इसका बहिष्कार किया, पर डा० अम्बेडकर ने बम्बई प्रदेश की विधान परिषद के एक सदस्य के

रूप में इसके समक्ष साक्ष्य दिया और शोषित वर्ग के लोगों के लिए एक अलग निर्वाचक मंडल बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया। इस कमीशन ने लंदन में एक गोलमेज सम्मेलन आयोजित करने की सिफारिश की जहां विभिन्न पार्टियों के नेता मिलकर विचार-विमर्श कर सकें। डा० अम्बेडकर को अस्पृश्य लोगों के प्रतिनिधि के रूप में आमंत्रित किया गया। गोलमेज सम्मेलन अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल नहीं हुआ क्योंकि इसमें भाग लेने वालों में आम राय नहीं बन पाई। डा० अम्बेडकर का शोषित वर्ग के लोगों के लिए एक अलग निर्वाचक मंडल का सपना उस समय आंशिक रूप से साकार हुआ जब ब्रिटिश प्रधानमंत्री द्वारा "कम्यूनल अवार्ड" की घोषणा की गई।

ब्रिटिश सरकार के निर्णय से महात्मा गांधी क्रो सदमा पहुंचा तथा उन्होंने पूना में आगा खां महल में मृत्यु-पर्यन्त उपवास की घोषणा कर दी। महात्मा गांधी के जीवन को बचाने के लिए डा० अम्बेडकर को अलग निर्वाचक मंडल के स्थान पर आरक्षित निर्वाचन-क्षेत्रों संबंधी बात पर झुकना पड़ा। यद्यपि अस्पृश्य लोगों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उन्नति के उपायों के संबंधों में गांधी और अम्बेडकर के विचार आपस में नहीं मिलते थे, फिर भी, वे एक-दूसरे का बहुत आदर करते थे।

यदि गांधी जी ने अम्बेडकर की विद्वता, निष्कपटता और त्याग की प्रशंसा की और उन्हें एक उत्कृष्ट देशभक्त माना तो अम्बेडकर ने भी गांधी जी की सोद्देश्यता की भावना एवं राष्ट्र के प्रति उनके समर्पण को स्वीकार किया।

वर्ष 1942 में अम्बेडकर ने अनुसूचित जातियों के हितों की रक्षा के लिए अखिल भारतीय राजनीतिक दल के रूप में अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ का गठन किया। हालांकि फरवरी 1946 में हुए आम चुनावों में इस पार्टी ने कोई खास चुनावी सफलता प्राप्त नहीं की।

एक संसदविद् के रूप में

जिस उद्देश्य के लिए डा० अम्बेडकर प्रयत्नशील थे, उसे ध्यान में रखते हुए बम्बई के गवर्नर ने उन्हें 1926 में बम्बई विधान परिषद का सदस्य मनोनीत किया। इस परिषद के वे 1934 तक सदस्य रहे। उक्त एसेम्बली में वे भू-राजस्व, सरकार की मद्यनिषेध नीति, बजट, शिक्षा आदि विषयों पर विस्तारपूर्वक बोला करते थे। इस अवधि के दौरान उन्होंने किसानों और कामकाजी वर्गों के कल्याण तथा छुआछूत दूर करने के संबंध में कई विधेयक पुरःस्थापित किए लेकिन रुढ़िवादी वर्ग के कड़ा विरोध होने के कारण इन्हें पारित नहीं किया जा सका। तथापि विधानमंडल में अपने पहले ही कार्यकाल में उन्होंने स्वयं को एक प्रखर संसदविद् के रूप में स्थापित कर लिया।

1936 में डा० अम्बेडकर ने इन्डेपेन्डेन्ट लेबर पार्टी आफ इण्डिया की स्थापना की।

भारत सरकार अधिनियम 1935 के उपबन्धों के अनुसरण में देश में 1937 में भारत के पहले लोकप्रिय विधानमंडलों के निर्वाचन हेतु मतदान हुआ। इण्डेपेन्डेन्ट लेबर पार्टी ने बम्बई में 17 सीटों पर चुनाव लड़ा जिसमें उसे 15 सीटों पर विजय हासिल हुई। विपक्षी नेता के रूप में डा० अम्बेडकर ने बम्बई विधानसभा में बड़ी कारगर और सोद्देश्यपूर्ण भूमिका निभाई और एक अनुभवी संसदविद् के रूप में अपनी विद्वता का परिचय दिया। जब मंत्रियों के वेतन संबंधी विधेयक पर चर्चा चल रही थी तो डा० अम्बेडकर ने टिप्पणी की कि वे मंत्रियों के लिए किसी भी मानक वेतन को स्वीकार नहीं करेंगे। उन्होंने अपने प्रखर भाषण में तर्कसंगत तरीके से अपनी दलीलों को प्रस्तुत किया। उन्होंने सुझाव दिया कि किसी मंत्री के वेतन निर्धारण में चार बातों का ध्यान रखना चाहिए: "(1) मंत्रियों जोकि निःसन्देह सामाजिक नेता हैं, के सामाजिक स्तर को ध्यान में रखते हुए (2) उनकी क्षमता को ध्यान में रखते हुए (3) प्रजातंत्र को ध्यान में रखते हुए, और (4) प्रशासन संबंधी निष्ठा और निष्कपटता को ध्यान में रखते हुए।" उन्होंने आगे टिप्पणी की कि व्यक्तिगत रूप से मैं यह समझता हूं कि देश के मंत्रियों को, जोकि देश के प्रथम नागरिक हैं, एक ऐसा जीवन यापन करना चाहिए जोकि सुसंस्कृत हो, जिससे कला व ज्ञान को बढ़ावा मिले, जो कि जनसाधारण के लिए एक आदर्श बने। उन्होंने मंत्री की सक्षमता पर भी बल दिया क्योंकि उनके विचार में: "यदि हमें विभिन्न समस्याओं का समाधान करना है तथा संविधान अर्थात भारत सरकार अधिनियम, 1935 से सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त करना है तो कार्यपालिका को शिक्षामण्डल होना ही चाहिए।"[1] अपनी प्रखर भाषण क्षमता और विद्वता के कारण डा० अम्बेडकर वाद-विवाद में अक्सर कड़ा मुकाबला करते थे। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि जब वे सभा में बोलने के लिए खड़े होते थे तो सदस्य बड़े ध्यानपूर्वक उन्हें सुना करते थे।

डा० अम्बेडकर बंगाल विधान सभा से 1946 में संविधान सभा के लिए पहली बार चुने गए। लेकिन विभाजन होने के कारण बंगाल का प्रतिनिधित्व करने वाले डा० अम्बेडकर सहित कई व्यक्तियों की संविधान सभा से सदस्यता समाप्त हो गई। परिणामस्वरूप बम्बई लेजिस्लेटिव कांग्रेस पार्टी द्वारा डा० एम० आर० जायकर के त्यागपत्र से खाली हुए स्थान को भरने के लिए डा० अम्बेडकर को चुना गया। जब देश में नए संविधान के अन्तर्गत पहली बार चुनाव हुआ तो डा० अंम्बेडकर बम्बई निर्वाचन क्षेत्र से अपना चुनाव हार गए। तथापि उन्हें मार्च 1952 में बम्बई विधान मंडल से राज्य सभा के लिए चुना गया। उन्होंने 1953 में लोक सभा के लिए उपचुनाव लड़ा लेकिन इस

---

[1] बम्बई लेजिस्लेटिव असेम्बली डिबेट्स, 23 अगस्त 1937, पृष्ठ 248-49।

समय भी वे हार गए। यद्यपि डा० अम्बेडकर राज्य सभा के सदस्य बने रहे, तथापि उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों का बड़ा भाग बौद्ध धर्म प्रचार में लगाया।

मंत्री के रूप में

1946 में जब अन्तरिम सरकार बनी, प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने विधि मंत्री के लिए डा० अम्बेडकर का चुनाव किया। इससे डा० अम्बेडकर को हिन्दू महिलाओं तथा अस्पृश्यों की नियति में सुधार करने का एक अनुपम अवसर मिला क्योंकि वे हिन्दू समाज में व्याप्त भेदभाव से पूर्णतः परिचित थे। इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने परिश्रमपूर्वक हिन्दू कोड बिल तैयार किया तथा 4 फरवरी, 1951 को इसे संसद में प्रस्तुत किया। डा० अम्बेडकर ने इस विधेयक का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए बताया कि इसका लक्ष्य हिन्दू समाज में सुधार लाना तथा हिन्दू कानूनों की कतिपय शाखाओं को संहिताबद्ध करना है। इसके महत्व पर बल देते हुए उन्होंने कहा कि ऐसा किया जाना देश की अखंडता की दृष्टि से भी हितकर है क्योंकि यही कानून हिन्दू समाज की सामाजिक और धार्मिक जीवन पर भी लागू होंगे। इस प्रकार स्वतन्त्र और गणतन्त्रात्मक भारत के विधि मंत्री के रूप में उन्होंने पुराने, रुढ़िवादी, दुरुह और अनुचित हिन्दू कानून को एक प्रगतिशील कानून में बदलने का प्रथम प्रयास किया। उनके इस प्रयास को ध्यान में रखकर उन्हें "आधुनिक मनु" की संज्ञा दी गई। यह प्रयास यद्यपि सुविचारित और प्रशंसनीय था लेकिन यह कार्यान्वित नहीं हो पाया क्योंकि मंत्रीमंडल में उनके कई सहयोगी इसके विरुद्ध थे और इसलिए अन्ततः यह विधेयक कानून का रूप नहीं ले पाया।

डा० अम्बेडकर द्वारा 9 मई, 1951 को अंतरिम संसद में जो एक अन्य महत्वपूर्ण विधेयक पुरःस्थापित किया गया था वह था-लोक प्रतिनिधित्व विधेयक, 1950, जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ संसद और विधान सभाओं के लिए स्वतंत्र रूप से चुनावों का आयोजन सदस्यता के लिए अर्हताओं और अनर्हताओं को निर्धारित करने तथा चुनावों के दौरान अपनाए जाने वाले भ्रष्ट और अवैध तरीकों से निपटने आदि के संबंध में प्रावधान किया गया है।

डा० अम्बेडकर ने, प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू और अन्य साथियों से विभिन्न मुद्दों पर मतभेद होने के कारण 25 सितम्बर 1951 को सरकार से त्यागपत्र दे दिया। हालांकि इन मतभेदों के बावजूद, विधि मंत्री के रूप में निश्चय ही वह अपने साथियों के लिए शक्ति पुन्ज थे। एक मंत्री के रूप में उन्होंने सिद्धान्तों के लिये लड़ाई लड़ी और उनके आदर्शवाद ने बहुत हद तक सामाजिक अन्याय की समाप्ति और दलितों के उद्धार को सुनिश्चित किया।

संविधान के मुख्य निर्माता के रूप में

एक राष्ट्रीय नेता, विधिवेत्ता, सांवैधानिक विशेषज्ञ और सांसद के रूप में उनकी ख्याति को पूर्ण मान्यता तब मिली जब पहले बंगाल तथा बाद में बंबई से उन्हें संविधान सभा में चुना गया। 29 अगस्त, 1947 को प्रारूप समिति में उनकी नियुक्ति की गई तथा इसके बाद वह इसके चेयरमैन चुने गए। प्रारूप समिति की सदस्यता तथा इसके चेयरमैन का पद डा० अम्बेडकर के लिए एक सुखद आश्चर्य था। यह सभा में उनके दिए गए वक्तव्य से स्पष्ट है—

> "मैं संविधान सभा में इस महत्वाकांक्षा के साथ आया था कि अनुसूचित जाति के लोगों के हितों की रक्षा कर सकूं। मुझे इस बात का लेशमात्र भी अंदाजा नहीं था कि मुझे इतनी जिम्मेदारी का कार्य करने को कहा जाएगा। इसलिए मुझे जब सभा ने प्रारूप समिति के लिए चुना तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मुझे इससे भी अधिक आश्चर्य तब हुआ जब प्रारूप समिति ने मुझे अपना चैयरमैन चुना। प्रारूप समिति में मुझसे बेहतर और अधिक सक्षम व्यक्ति मौजूद थे---।[2]

डा० अम्बेडकर के नेतृत्व में प्रारूप समिति की पहली बैठक 30 अगस्त, 1947 को हुई। डा० अम्बेडकर और उनकी टीम ने कुल मिलाकर 141 बैठकों में अंतरिम संविधान तैयार किया। इस अवधि के दौरान अधिकांश अवसरों पर डा० अम्बेडकर ने अकेले ही कार्य किया। एक अर्थशास्त्री, विधिवेत्ता और समाजविज्ञानी होने के नाते डा० अम्बेडकर इस बात को बहुत अच्छी तरह से जानते थे कि संविधान मात्र एक कानूनी दस्तावेज नहीं होता बल्कि एक सामाजिक और आर्थिक दस्तावेज होता है जिसमें करोड़ों व्यक्तियों की महत्वाकांक्षाएं, पीड़ा, मागें, शामिल होती हैं। लोकतंत्र के कट्टर समर्थक के रूप में बाबासाहेब ने भारतीय गणतंत्र के लिए एक संसदीय प्रकार का संविधान बनाए जाने पर जोर दिया। उन्हें अकेले ही भारत के संविधान का निर्माता क्यों कहा जा सकता है इस सम्बन्ध में श्री टी० टी० कृष्णमाचारी ने निम्नलिखित वक्तव्य दिया है:

> "सदन को शायद इस बात की जानकारी है कि आपके द्वारा नामित सात सदस्यों में से एक सदस्य ने सदन से इस्तीफा दे दिया था और उसके स्थान पर एक अन्य सदस्य को ले लिया गया था। एक सदस्य की मृत्यु हो गई जिनका स्थान खाली पड़ा हुआ था। एक सदस्य अमरीका में थे और उनका स्थान खाली पड़ा हुआ था। एक अन्य सदस्य

---

[2] कांस्टीट्यूएन्ट असेम्बली डिबेट्स, 25 नवम्बर, 1949 खंड XI पृ० 973-974

राज्य सम्बंधी मामलों में उलझे हुए थे इस कारण उनका स्थान भी खाली था। एक साथ अन्य सदस्य दिल्ली में नहीं थे और शायद स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण वे बैठक में भाग नहीं ले सके थे। इस प्रकार अंततः संविधान का प्रारूप तैयार करने का भार डा० अम्बेडकर पर आ पड़ा और मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस कार्य को प्रशंसनीय रूप से पूरा करने के लिए हम उनके आभारी हैं।"[3]

प्रारूप समित द्वारा तैयार किया गया संविधान का प्रारूप डा० अम्बेडकर द्वारा 4 नवम्बर 1948 को संविधान सभा में प्रस्तुत किया गया। इसके परिचय के बाद उन्होंने संविधान के प्रारूप की विशेषताओं के बारे में एक विशुद्ध और परिष्कृत भाषण दिया। अंततः संकट काल में तथा शांति-काल के दौरान संविधान की संप्राणता और सहिष्णुता के बारे में बोलते हुए उन्होंने टिप्पणी की थीः

प्रारूप समिति द्वारा तैयार किया गया संविधान व्यावहारिक है। देश को शांति काल तथा युद्ध काल के दौरान नियंत्रित करने हेतु यह पर्याप्त लोचशील और पूरी तरह सक्षम है। वास्तव में, मैं कह सकता हूं कि अगर नए संविधान के अंतर्गत कुछ गलत होता है तो इसका कारण यह नहीं होगा कि हमारे संविधान में कोई बुराई है बल्कि यह होगा कि देशवासी चरित्रभ्रष्ट हैं।"[4]

एक के बाद एक सदस्य ने प्रारूप समिति के चेयरमैन और इसके सदस्यों द्वारा किए गए कठिन कार्य की सराहना की और डा० अम्बेडकर के ओजपूर्ण प्रारंभिक भाषण की प्रशंसा की। वर्ष-भर चलने वाले वाद-विवादों में बाबासाहेब ने, प्रत्येक स्तर पर जहां संशोधन लाए गए और उन पर विचार किया गया, सक्रिय रूप से भाग लिया और प्रारूप संविधान के पक्ष में स्वीकार्य तर्कसंगत तर्क दिए। इस बात का पूरा और सही श्रेय बाबासाहेब को ही जाता है उनकी अध्यक्षता में प्रारूप समिति द्वारा तैयार किए गए संविधान को संविधान सभा ने बिना किसी बड़े परिवर्तन के स्वीकार कर लिया था।

संविधान सभा द्वारा संविधान स्वीकृत किए जाने से एक दिन पहले सदस्यों ने संविधान निर्माण में डा० अम्बेडकर के महत्वपूर्ण योगदान के लिए उनके प्रति आभार व्यक्त किया और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

---

3. कांस्टीच्यूएंट असेम्बली डिबेट्स, 5 नवम्बर, 1948 खंड VII पृ० 231।
4 वही 4 नवम्बर, 1948, पृ० 44

संविधान सभा के प्रेसीडेंट, डा० राजेन्द्र प्रसाद ने संविधान निर्माता के बारे में कहा था:—

".....इस पद पर रहते हुए तथा सदन की दिन-प्रतिदिन की कार्यवाही को देख कर वैसा किसी ने भी महसूस नहीं किया होगा, जैसा मैंने महसूस किया है कि प्रारूप समिति के सदस्यों, विशेष रूप से इस समिति के चेयरमैन, डा० अम्बेडकर ने अपनी अस्वस्थता के बावजूद किस उत्साह और लगन से कार्य किया है। जिस समय हमने उन्हें प्रारूप समिति में शामिल करके इसका चेयरमैन बनाया था, उस समय हम यह निर्णय नहीं कर पाये थे कि यह निर्णय सही था अथवा कभी सही भी हो सकता है। उन्होंने अपने चयन को न केवल न्यायसंगत ही सिद्ध किया बल्कि अपने किए गए कार्य को उत्कृष्टता भी प्रादन की।"[5]

संविधान का प्रारूप तैयार करने तथा इसे मार्गदर्शक बनाने में बाबा साहेब द्वारा किये गये कठिन कार्य की प्रशंसा करते हुए एक अन्य सदस्य, श्री पट्टाभि सीतारमय्या ने कहा:

".....इतने बड़े एवं कठिन कार्य; जो अदम्य, अप्रतिरोध, अजेय था, को साकार करने तथा बड़े छोटे दोनों को समान रूप देकर उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया। जो भी उन्हें उचित लगा, चाहे उसके जो भी परिणाम निकले, उस पर वह डटे रहे।"[6]

श्रम कानून के जनक के रूप में / श्रम परिषद् के सदस्य के रूप में

डा० अम्बेडकर की कानूनी कुशाग्रता, शैक्षिक विशिष्टता, वार्ताकारिता और प्रशासनिक योग्यता को देखते हुए तत्कालीन वायसराय ने उन्हें 1942 में रक्षा परिषद् का सदस्य नियुक्त किया था बाद में उन्हें श्रम परिषद् का कार्यभार सौंपा गया जिस पर वह जून 1946 तक कार्य करते रहे। यद्यपि यह समय बहुत ही कम था फिर भी देश के श्रम कानून तथा श्रमिक कल्याण के इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण समय समझा जाता है।

श्रम परिषद् के सदस्य के रूप में, डा० अम्बेडकर को केन्द्रीय सरकार में "अछूतों" के लिए 5 से 6 प्रतिशत पद आरक्षित करवाने में सफलता मिली। उन्होंने उन "अछूत" विद्यार्थियों की भी मदद की जो विदेशों में तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक थे। श्रम सदस्य के रूप में, उनके कार्यकाल के दौरान ही रोजगार कार्यालय स्थापित किये गये ताकि विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत प्रशिक्षित किए जा रहे कुशल तथा अर्धकुशल

---

[5] संविधान सभा वाद-विवाद, 26 नवम्बर, 1949, खण्ड- XI, पृष्ठ 994.
[6] संविधान सभा वाद-विवाद, 26 नवम्बर, 1949, खण्ड- XI, पृष्ठ 946.

श्रमिकों एवं तकनीशियनों को बेकार न छोड़ दिया जाए बल्कि रोजगार के नये अवसर पाने में उनकी मदद की जाए।

श्रम सदस्य के रूप में डा० अम्बेडकर ने औद्योगिक क्षेत्र में लोकतंत्र और सद्भावना को बढ़ावा देने के लिए अनेक उपाय किए। उन्होंने कुछ सामाजिक सुरक्षोपाय भी शुरू किए। सबसे पहले, नियोक्ताओं और कर्मचारियों के बीच के मुद्दों को सुलझाने के लिए उन्होंने त्रिपक्षीय वार्ता की शुरूआत की। औद्योगिक विवादों को रोकने तथा इनका समाधान ढूंढने, श्रम कानूनों को लागू करने तथा केन्द्रीय क्षेत्राधिकार के अंतर्गत आने वाले उद्योगों में श्रमिक कल्याण को बढ़ावा देने के लिए श्रम प्रशासन गठित किया गया था। उनके कार्यकाल के अंत में सभा में जो महत्वपूर्ण श्रम कानून पेश किया गया था वह 'न्यूनतम वेतन विधेयक' था।

इन प्रयासों और विधायी परिवर्तनों के कारण डा० अम्बेडकर के आलोचकों ने भी उनकी प्रशंसा की और उन्हें एक योग्य और हितैषी प्रशासक की संज्ञा दी।

एक शिक्षाविद् के रूप में

यह एक स्वयंसिद्ध सत्य है कि भारत में "अछूतों" को सदियों से मूल शिक्षा के लाभ से वंचित रखा गया था। किसी के जीवन में शिक्षा के महत्व को महसूस करते हुए डा० अम्बेडकर ने अपने अनुयायियों को इस बात के लिए राजी किया कि वे अपने बच्चों को पढ़ाएं। उन्होंने शिक्षा को इतना महत्वपूर्ण समझा कि "शिक्षा" को अपनी "**शिक्षा, आन्दोलन और संगठन**" संबंधी तीन नारों वाली कार्यवाही में पहला स्थान दिया। "अछूत" समुदाय के विद्यार्थियों को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से डा० अम्बेडकर ने छात्रावास स्थापित किए और वहां छात्रों को निःशुल्क पुस्तकें एवं कपड़े उपलब्ध कराये। ऐसे छात्रावासों से इन समुदायों में प्राइमरी तथा हाईस्कूल शिक्षा को बढ़ावा देने में काफी मदद मिली।

वर्ष 1945-46 में, डा० अम्बेडकर ने अपनी ही शिक्षा संस्थान "दि पीपल्स एजुकेशन सोसाइटी" की स्थापना की। वायसराय के कार्यकारी परिषद् का सदस्य होने के कारण वह भारत सरकार से तीन लाख रुपये की अनुदान राशि तथा इतनी ही राशि का ब्याजरहित ऋण लेने में सफल रहे। उनकी सोसाइटी के अंतर्गत पहला कालेज बम्बई में खोला गया और इसका नाम "सिद्धार्थ कालेज ऑफ आर्ट्स एण्ड साइन्स" रखा गया।

डा० अम्बेडकर अध्यापन में भी काफी रूचि रखते थे। उन्होंने बम्बई के सिडनहम कालेज आफ कामर्स तथा गवर्नमेंट लॉ कालेज में भी पढ़ाया तथा बाद में बम्बई में वे इस लॉ कालेज के प्रिंसिपल बन गये। उनके लेक्चरों को बड़े ध्यान से सुना जाता था तथा

कक्षा-कक्ष विद्यार्थियों से पूरा भरा होता था क्योंकि अन्य कालेजों के विद्यार्थियों ने भी यह मत बना लिया था कि उनके विद्वतापूर्ण लेक्चरों को न छोड़ा जाए।

लेखक के रूप में

डा० अम्बेडकर अत्यधिक अध्ययनशील व्यक्ति ही नहीं थे बल्कि एक अच्छे लेखक भी थे। उनके लेखों में मानव हित जैसे प्रशासन, मानव शास्त्र, अर्थशास्त्र, वित्त, राजनीति शास्त्र, धर्म इत्यादि विभिन्न विषयों का समावेश था। चार दशकों के अन्दर ही उन्होंने अंग्रेजी में 20 से भी अधिक पुस्तकें, पैम्फलेट तथा लेख लिखे। डा० अम्बडेकर ने वर्ष 1920 में भारत में शोषित वर्गों के हितों के समर्थन में पहली साप्ताहिक पत्रिका "मूकनायक" (लीडर ऑफ द डम्ब) शुरू की। फिर भी, यह पत्रिका काफी दिनों तक नहीं चल सकी। कोलम्बिया में मानव शास्त्र विचार-गोष्ठी में एक विद्यार्थी के रूप में डा० अम्बेडकर की सर्वप्रथम प्रकाशित रचना **"दि कास्टस इन इंडिया, दियर मेकेनिज्म, जेनेसिस एण्ड डिवलपमेंट"** नाम से पढ़ा गया पत्र था। वर्ष 1924 में **"दि इवोल्यूशन ऑफ प्रोविन्शल फाइनेन्स इन ब्रिटिश इंडिया"** शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित उनके पी०एच०डी० शोध कार्य को बड़ौदा के महाराजा को उनके आभार के रूप में समर्पित किया गया। यह पुस्तक बजट पर विचार-विमर्श के दौरान भारतीय विधानमंडलों के सदस्यों के लिए जानकारी प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण स्रोत सिद्ध हुआ। उनकी अन्य पुस्तकों में **"व्हाट कांग्रेस एण्ड गांधीजी हैव डुन टु द अनटचेबल्स? शूद्र कौन थे और वे भारतीय-आर्य समाज में चुतर्थ वर्ण कैसे बन गये?" "भाषाई राज्यों पर विचार", "पाकिस्तान पर विचार", "रानाडे, गांधी और जिन्ना" और "भारत में जातियों का उन्मूलन"**

बुद्ध और उनकी शिक्षाओं के सच्चे अनुयायी होने के नाते, उन्होंने 1952 में "बुद्ध उपासना पथ" नामक एक बौद्ध प्रार्थना पुस्तक संकलित की। उनकी दूसरी पुस्तक, "बुद्ध और उनका धम्म", जो 1957 में प्रकाशित हुई थी "बौद्ध बाईबिल" के रूप में जानी जाती है और उसमें बुद्ध का जीवनवृत्त और व्यक्तित्व समाहित है और उसमें धम्म की विश्लेषणात्मक व्याख्या की गई है।

डा० अम्बेडकर एक जीवनी लेखक भी थे। उन्होंने हजारों पुस्तकें एकत्र की थी और उनके पास बहुत बड़ा निजी ग्रंथालय था।

बौद्ध के अनुयायी के रूप में

डा० अम्बेडकर को सामाजिक विषमताओं, अछूत बालक, वकील और प्रोफेसर के रूप में हुए अनुभवों ने हिन्दू समाज और उसकी रूढ़िवादिता का कट्टर आलोचक बना दिया। डा० अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म अपनाने से पहले, अक्तूबर, 1935 में घोषणा की कि अछूत लोग हिन्दू धर्म को छोड़कर कोई और धर्म अपनाएंगे। तद्नुसार, पहले वह 1938-40 के दौरान सिख धर्म की ओर उन्मुख हुए। किन्तु, उनके प्रयास सफल नहीं हुए। अन्ततः उन्होंने 1956 में बौद्ध धर्म अपना लिया।

बौद्ध धर्म में डा० अम्बेडकर का विश्वास इसलिए बढ़ा क्योंकि उन्होंने महसूस किया कि बुद्ध का धर्म नैतिकता है और बौद्ध धर्म का आदर्श समानता है और जबकि अन्य धर्मों के संस्थापकों ने स्वयं को "मोक्षदाता" होने का दावा किया था, बुद्ध केवल अपनी "मार्गदाता" की भूमिका से ही संतुष्ट थे।

डा० अम्बेडकर की बौद्ध धर्म में रुचि का पता विदेशों में हुए विभिन्न सम्मेलनों में उनके सक्रिय रूप से भाग लेने से स्पष्ट होता है। उन्होंने 1949 में काठमांडू में विश्व बौद्ध सम्मेलन को संबोधित किया, और वे 1950 में श्रीलंका में, 1954 में बर्मा में और पुनः 1956 में नेपाल में हुए विश्व बौद्ध कांग्रेस सम्मेलनों में उपस्थित हुए। उन्होंने 1955 में भारत में बुद्ध की शिक्षाओं का और अधिक प्रचार-प्रसार करने के लिए **भारतीय बुद्ध महासभा** की स्थापना की। अन्ततः उन्होंने 14 अक्तूबर, 1956 को नागपुर में एक विशाल समारोह में बौद्ध धर्म को अपना लिया और अपने अनुयायियों को नये मत को अंगीकार करने की सलाह दी। उन्होंने स्वयं अपने लाखों अनुयायियों को "दीक्षा" दी।

बौद्ध धर्म अपनाने के पश्चात दो महीने के ही भीतर भारत के इस महान सपूत ने 6 दिसम्बर, 1956 को **"महानिर्वाण"** प्राप्त कर लिया। भारत सरकार ने डा० अम्बेडकर की बहुमूल्य सेवाओं का सम्मान करने के लिए उन्हें मरणोपरांत राष्ट्र का सर्वोच्च पुरस्कार "भारत रत्न" प्रदान कर नेक काम किया है। अब वह उनके जन्म शती वर्ष को सामाजिक-न्याय वर्ष के रूप में मना रही है।

प्रशस्तियां और श्रद्धांजलि

सम्पूर्ण राष्ट्र, संसद, राज्यों के विधान मंडलों, समाचार पत्रों, प्रत्येक क्षेत्र से नेताओं, उनके लाखों अनुयायियों और प्रशंसकों तथा विदेशों से आए सम्मानित व्यक्तियों ने इस महान व्यक्तित्व, जिसने आधुनिक भारत की नींव रखने में सहायता पहुंचायी, के दुखद और आकस्मिक निधन पर शोक व्यक्त किया।

डा० अम्बेडकर की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए, लोक सभा के तत्कालीन अध्यक्ष, श्री एम० अनन्तसयनम् आयंगर ने कहा था:

> "डा० अम्बेडकर का व्यक्तित्व महान और गतिशील था। सामान्य परिस्थितियों से उठकर वे अनुसूचित जातियों के नेता बन गये। वह महान विद्वान और लेखक थे इनमें भी वे सबसे पहले महान वक्ता थे। वे हमारे संविधान के पथ-प्रदर्शक थे। सामाजिक सुधार के क्षेत्र में, उन्होंने अनेक हितकारी उपायों का सूत्रपात किया। उनके निधन से भारत ने एक महान सपूत खो दिया है।[7]"

हमारे संविधान के निर्माण में बाबा साहेब की प्रमुख भूमिका को स्मरण करते हुए, तत्कालीन प्रधानमंत्री, पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था:

> "हम उन्हें अनेक बातों विशेष रूप से संविधान के निर्माण में जो प्रमुख भूमिका उन्होंने निभाई थी, के लिए याद करते हैं और संभवतः उनके कार्यकलापों की तुलना में यही तथ्य अधिक समय तक याद किया जाता रहेगा।[8]"

---

[7] लोक सभा वाद-विवाद, 6 दिसम्बर, 1956, कालम 2068

[8] राज्य सभा वाद-विवाद, 6 दिसम्बर, 1956, कालम 1769

सहायक सामग्री

1. सेन, एस० पी० (सम्पादक): **डिक्शनरी आफ नेशनल बायोग्राफीज,** खण्ड 1, कलकत्ता, इंस्टीट्यूट आफ हिस्टोरिकल स्टडीज, 1973।
2. अहलुवालिया, शशिः **फाउन्डर ऑफ माडर्न इंडिया,** नई दिल्ली, मंडी पब्लिकेशन्स, 1986।
3. कीर, धनन्जय : **डा० अम्बेडकर—लाइफ एण्ड मिशन,** बाम्बे पापुलर प्रकाशन, 1990।
4. अहीर, डी० सी० : **द लीगेसी आफ डा० अम्बेडकर,** दिल्ली, बी० आर० पब्लिशिंग कारपोरेशन, 1990।
5. राजाशेखरिया, ए० एम० : बी० आर० अम्बेडकर, **द क्वेस्ट फार सोशल जस्टिस.** नई दिल्ली, उप्पल पब्लिशिंग हाउस, 1989।
6. रंगा, एन० जी० : **डिस्टिंगविश्ड एक्विज़िटैंसेस,** खण्ड 1, हैदराबाद, देसी बुक हाउस, 1976।
7. कुबेर, डब्ल्यू० एम० : **अम्बेडकर ए क्रिटिकल स्टडी,** नई दिल्ली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 1979।
8. बाम्बे लेजिस्लेटिव एसेम्बली डिबेट्स।
9. कांस्टीटूएण्ट एसेम्बली डिबेट्स।
10. लोक सभा वाद-विवाद।
11. राज्य सभा वाद-विवाद।
12. प्राविजनल पार्लियामेंट आफ इंडिया हू-इज़-हू।
13. राज्य सभा हू-इज़-हू।

भाग दो
लेख

2

डा० बी० आर० अम्बेडकर — मेरी दृष्टि में

— प्रो० एन० जी० रंगा*

डा० बी० आर० अम्बेडकर में एक विद्वान, क्रांतिकारी और राजनेता के सभी गुण थे। ऐसे महानुभाव लोकतांत्रिक समाज में बहुत ही कम होते हैं। उन्हें अपने राजनैतिक जीवन की प्रारंभिक सफलता उस समय प्राप्त हुई जब वह महात्मा गांधी के संपर्क में आये और जब भारत को स्वराज के लिये अपने दावों को औचित्यपूर्ण बनाने के लिये प्रगतिशील सामाजिक और मानवोचित मानकों को अपनाने की ऐतिहासिक आवश्यकता थी। विधि मंत्री के रूप में उनकी दैवकृत स्थिति तथा विधि में स्वीकृत विद्वता और दलित वर्गों के हितों के समर्थक होने के नाते उन्हें संविधान सभा में स्वतंत्र भारत के संविधान विधेयक के मुख्य निर्माता और कर्णधार के रूप में चुना गया। इस प्रकार डा० अम्बेडकर भारतीय संविधान पर भारतीय इतिहास की मोहर लगाने के लिए एक माध्यम बने।

डा० अम्बेडकर समाज के एक वर्ग के अधिकारों के अमानवीय वंचन, जिसे प्राचीन मनु स्मृति द्वारा मान्यता प्राप्त थी, और उच्च वर्गों के लोगों द्वारा भोगे जा रहे गलत अधिकारों का विरोध करने में आधुनिक युग के मनु के रूप में उभरे। हमसे कई लोगों की भांति अम्बेडकर का भी वयस्क मताधिकार में दृढ़ विश्वास था जिसे उन्होंने संविधान में अंकित किया। यह एक विडम्बना ही थी कि प्रथम चुनाव में उनकी हार उन्हीं व्यक्तियों द्वारा हुई जिन्हें समानता के सिद्धांत पर अधिकार प्रदान करने के आधार पर मतदान का अधिकार दिलाया गया था।

जब मैंने अम्बेडकर द्वारा लिखित "दी प्राब्लम आफ दि रुपी" नामक पुस्तक तथा "फेडरेशन एण्ड स्टेट्स राइट्स" की समस्याओं से संबंधित लेखों को पढ़ा तो मैं एक अर्थ-शास्त्री के रूप में अम्बेडकर की मौलिकता और अद्वितीय विद्वता की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सका। प्रथम गोलमेज सम्मेलन में उनके भाषणों के कारण उन्होंने राष्ट्रीय

---

*प्रो० रंगा संविधान सभा के सदस्य थे और इस समय वह संसद (लोक सभा) के सबसे पुराने सदस्य हैं।

राजनीति के क्षेत्र में ख्याति पाई। तब हमें आभास हुआ कि वह कितने महान राजनेता हैं। ब्रिटिश सरकार ने उन्हें गोलमेज सम्मेलन के शिष्टमंडल के सदस्य के रूप में यह मानकर चुना कि वह अन्य ब्राह्मणों से भिन्न नेताओं की भांति स्वराज के लिये राष्ट्रीय मांग का विरोध करेंगे परन्तु हरिजनों और ब्राह्मणों से भिन्न नेताओं के विचारों के प्रतिकूल उन्होंने राष्ट्रीय स्वतंत्रता की मांग का विरोध यह सोच कर नहीं किया कि कहीं ऐसा न हो कि यह समृद्ध और उच्च वर्गों का सदियों से चला आ रहा आधिपत्य चलता न रहे। उन्होंने महारानी विक्टोरिया की सन् 1857 की उद्घोषणा और सामाजिक तथा धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का ब्रिटिश नीति का विरोध किया जिसे उन्होंने निम्नवर्ग के लोगों के सतत् दमन और उनमें व्याप्त निराशा का कारण बताया।

गोलमेज सम्मेलन में अम्बेडकर के ऐतिहासिक भाषण से हम एकमत हो गये। हम लन्दन में अक्सर मिलते रहे और मैंने पाया कि हमारे विचारों, इतिहास के मनन और राजनैतिक समझबूझ में काफी समानता है। हमने महसूस किया कि भारत के लिए समाजवादी रवैया ही सर्वोत्तम रहेगा जिससे बिना किसी भेदभाव के सभी के लिए मूल अधिकारों तथा सामाजिक और राजनैतिक विशेषाधिकारों की समानता सुनिश्चित हो। उनका यह विचार था कि शायद गांधी जी पद्दलितों और उनके चहुंमुखी उद्धार और सामाजिक प्रगति का विरोध करेंगे क्योंकि उनकी आस्था सनातन धर्म में है। मैंने तर्क दिया कि उनके बहुत से कथनों जिनमें मात्र हमारे पारम्परिक और सामाजिक धारणाओं को दोहराया गया है, के बावजूद गांधी जी एक सामाजिक क्रांतिकारी हैं और वह बहुत से पौराणिक विश्वासों और निष्ठाओं का विरोध करने में नहीं झिझकेंगे। यदि वह इन्हें जनसाधारण की सामाजिक स्वतंत्रता में रोड़ा पायेंगे। अम्बेडकर मुझसे सहमत नहीं थे। फिर भी हम मिलते रहे और हमने एक दूसरे का विश्वास जीत लिया।

अस्पृश्यता के विरुद्ध और हरिजन उत्थान के प्रति गांधी जी के अभियान के प्रति अम्बेडकर की आलोचना आक्रोशपूर्ण और कठोर थी। हरिजनों (उस समय उन्हें पंचमा अथवा आदि द्रविड़ कहा जाता था) को हिन्दुओं के साथ अर्थात् संयुक्त निर्वाचकों में शामिल करने पर गांधी जी के बल देने का उनका विरोध उग्र, कठोर और अनुचित था। अनुसूचित जातियों के लिये पृथक निर्वाचन पद्धति के पक्ष में रामसे मेकडोनाल्ड अवार्ड के विरुद्ध गांधी जी के पूणे में उपवास के दौरान उसकी बदले की भावना से सभी राष्ट्रवादियों की भावनाओं को ठेस पहुंची थी यद्यपि हमसे हिन्दू रूढ़िवादी नेताओं को संयुक्त निर्वाचन पद्धति में स्थानों के आरक्षण से अनुसूचित जाति के संरक्षण की मांग को स्वीकार करना पड़ा। वैलोर जेल में

सहकैदियों को उनके मौलिक विचारों को समझाने में मुझे काफी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। बाद में, उन्हें गांधी जी के उदारपूर्ण समर्थन और राजाजी की राजनैतिक प्रशंसा प्राप्त हुई जिन्हें उन्होंने एक कलम भेंट किया जिससे उन्होंने प्रसिद्ध पूणे संधि पर हस्ताक्षर किये।

युद्ध के समय डा० अम्बेडकर ने ब्रिटिश सरकार को मजबूर किया कि वह उसे अनुसूचित जाति के एक प्रतिनिधि के रूप में नहीं अपितु उनकी राजनैतिक हैसियत को खुले रूप से मान्यता प्रदान करके वायसराय काउंसिल में शामिल होने के लिये आमंत्रित करे।

यह मेरा सौभाग्य था कि जब आजादी मिली तब मैं राष्ट्रीय नेताओं को सफलतापूर्वक राजी कर सका कि डा० अम्बेडकर को मंत्रिमंडल में शामिल करने के लिये आमंत्रित किया जाए। मैंने उस समय भी अपना समर्थन दिया बाद में उन्हें संविधान सभा में कार्यभार सौंपने का और संविधान निर्माण के उस ऐतिहासिक काल में उनकी उत्कृष्ट भूमिका निभाने के लिये राष्ट्रीय नेताओं ने उन्हें आमंत्रित करने का निर्णय लिया था।

उन्होंने आंध्र प्रदेश के अपने सहयोगी वकील रामास्वामी की भांति ही भारतीय पुराण विद्या और महाकाव्यों में काफी शोध कार्य किया। बौद्ध मत पर ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म उसी तरह थोपा गया था जिस प्रकार आर्यों ने विजय और सशक्त सैद्धांतिक तथा धार्मिक प्रचार से स्वयं को द्रविड़ों पर थोपा था। उन्हें विजयी आर्यों एवं उनके सहयोगियों द्वारा स्वाभिमानी और वीर द्रविड़ों तथा प्राचीन जनजातियों का राजनैतिक रूप से दमन और बाद में उन्हें गुलामों की जिन्दगी बिताने पर मजबूर करने का तरीका बिल्कुल पसंद नहीं था। वह इतिहास के उस दुर्भाग्यपूर्ण परिवर्तन से अत्यधिक क्रुद्ध थे जिसमें उन हारे हुये और दलित व्यक्तियों ने कर्म के सिद्धांत के आधार पर अपने निम्न सामाजिक स्तर, राजनैतिक शक्ति की समाप्ति और पद्दलित आर्थिक और सामाजिक अस्तित्व को स्वीकार किया। प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध जनसाधारण में विद्रोह पैदा करने के लिये वह आंध्र प्रदेश के वकील रामास्वामी, तमिलनाडु के ई०वी०आर० तथा अन्ना की ही भांति अथक प्रयास करने के लिये दृढ़ संकल्प थे। वे गांधीजी और हमारे में से कई लोगों के संरचनात्मक और क्रांतिकारी कार्यों से इतने अधिक असन्तुष्ट थे कि उन्होंने तथाकथित सामाजिक विश्वासों और धार्मिक सिद्धांतों की समीक्षा करने सनातनियों को मानवतावाद, जिसमें अस्पृश्यता, गुलामी नहीं है और कुछ के लिए सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक श्रेष्ठता या विशेषाधिकार हो और अन्यों के लिए असमर्थताएं हैं, के राजनीतिक सिद्धांत को स्वीकार करने के लिए मजबूर कर दिया।

वाइसराय को कार्यकारी पार्षद पद अथवा मंत्रिमंडल में मंत्री पद डा० अम्बेडकर को

जनविचारधारा, विशेषतः हरिजनों एवं शोषित वर्गों की सामाजिक जागरूकता और धार्मिक विद्रोह तथा सामूहिक विचारधारा के पुनर्निर्माण के हित में अपने अध्ययन और लेखन कार्य से नहीं रोक सका। शूद्रों के संबंध में उनका श्रेष्ठ शोध कार्य पारम्परिक इतिहासकारों एवं पौराणिक शास्त्रियों के लिये एक चुनौती था और यह उस समय तैयार किया गया और लोगों के समक्ष रखा गया था जब वह सरकार में सर्वोच्च पद पर थे।

उन्होंने महसूस किया कि सदियों पुरानी हीनता की उस भावना को जिसने शोषित वर्ग के सामाजिक स्तर और दिल-दिमाग को बौना बना दिया है, मात्र सांस्कृतिक और बुद्धिमतापूर्ण ज्ञान एवं विचार परिवर्तनों से बदला नहीं जा सकता। अतः उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि उन्हें आर्थिक और राजनैतिक दोनों ही अधिकार प्रदत्त करने होंगे। इसीलिए उन्होंने मौलिक अधिकारों और निदेशक सिद्धांतों के लिये कांग्रेस के प्रस्तावों का सहोल्लास समर्थन किया। भारत के आम लोगों को हिन्दू धर्म की सर्वत्र व्याप्त विचारधाराओं से परिपूर्ण पौराणिक वातावरण से स्वतंत्र कराने के लिये उन्होंने उन्हें हिन्दूमत से बाहर निकालने का निश्चय किया और सर्वोत्तम वैकल्पिक धर्म के रूप में उन्हें बौद्ध धर्म अपनाने में मदद की वह स्वयं भी बौद्ध धर्म के अनुयायी बन गये और उन्होंने काफी अधिक संख्या में हरिजनों, मुख्य रूप से महाराष्ट्रवासियों को बौद्ध-धर्म अपनाने के लिये राजी कर लिया।

यद्यपि क्रांतिकारी तरीकों को लेकर उनमें और साम्यवादियों में काफी समानता थी, तथापि वह उनके देशेतर निष्ठा और बंदूक की नोक वाली बात के पूर्णतः विरुद्ध थे अतः उनके मजदूर संघ ने साम्यवादी प्रधानता वाले अखिल भारतीय मजदूर संघ का अनुसरण करने से इंकार कर दिया।

डा० अम्बेडकर ने महसूस किया कि आने वाले लम्बे समय तक अधिकांश हरिजन और पद्दलित वर्ग एवं निम्न और मध्यम वर्ग के लोग मजदूरी कमाने वाले ही रहेंगे। इसलिए श्रमिक वर्ग के हितों की रक्षा सामान्य स्थिति में सुधार करने वाले उपायों से ही की जा सकती है। अतः उन्होंने मजदूर संघों और उनसे संबंधित विधान का समर्थन पूरे शौक से किया था।

जब मैंने कृषिकर लोक दल की ओर से एक समूह बनाया, तो उन्होंने एक भूतपूर्व मंत्री सहित अपने तीन अनुयायियों को कृषिकर लोकदल में शामिल होने के लिये प्रेरित किया। तब उन्होंने मुझे बताया था कि वह इस बात से अत्यधिक प्रसन्न हैं कि हम एक स्वतंत्र संसदीय संघ बना पाये हैं। यद्यपि वह संसद में एक स्वतंत्र सदस्य के रूप में रहे तथापि जब कभी भी मुझे आवश्यकता पड़ी उन्होंने किसानों और श्रमिकों के हितों का अपने भाषणों के माध्यम से समर्थन किया और मुझे अपना सहयोगी माना।

यह सच है कि भारत का संविधान उन बुद्धिमान लोकतंत्रवादियों का कार्य है जिन्होंने वास्तव में जनता की प्रगति की कामना की थी। इसके विधायी ढांचे का निर्माण और वाक्यरचना अलादी और मुंशी जैसे प्रतिष्ठित विधि शास्त्रियों ने की थी। संविधान सभा में दिये गये डा० अम्बेडकर के विद्वतापूर्ण भाषण संविधान निर्माण में उनके पांडित्यपूर्ण तथा स्वतंत्र विचारों और दूरदर्शिता का परिचय देते हैं। वह एक सच्चे लोकतंत्रवादी थे। वह भारतीय स्वराज के भावी सामाजिक लोकतंत्र के मानवोचित निर्देशक के रूप में जीवित रहे।

अम्बेडकर और अनुसूचित जातियों के राजनैतिक अधिकार

मुरलीधर सी० भंडारे*

डा० अम्बेडकर एक महान सफल कहानी के प्रतीक हैं। उनका जीवन दर्शाता है कि दीन-हीन व्यक्ति भी भारत के ऊंचे पदों में से भी सर्वोच्च पद पर पहुंच सकता है। उनका जन्म एक गरीब महार परिवार में अछूत हिन्दू के रूप में हुआ था। अपने जीवन के प्रारम्भिक काल और बाद में भी उन्हें उपेक्षाएं और अपमान सहन करना पड़ा, जो कि अछूतों के लिए अभिशाप था। मनु स्मृति ने एक कठोर जाति प्रथा को लागू किया था जिसे अम्बेडकर द्वारा आरोही क्रम में श्रद्धा योग्य और अवरोही रूप में अवमानना कहना ठीक होगा। अस्पृश्यता ने एक हरिजन को सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक अधिकारों से वंचित कर दिया था। स्वतंत्रता पूर्व के दिनों में उन्हें इस प्रकार की दासता से मुक्त होने की कोई संभावना नहीं थी। भारत में अस्पृश्यता, प्रजाति प्रार्थक्य का बदतर रूप था, भेदभाव रंग के आधार पर नहीं बल्कि जाति के आधार पर किया जाता था। जबकि गरीबी वंचित करती है, अस्पृश्यता मूल मानवीय अधिकारों तथा मौलिक स्वतंत्रता को समाप्त कर देती है।

तिलक ने कहा था "यदि भगवान अस्पृश्यता सहन करेंगे तो मैं उन्हें भगवान के रूप में नहीं पहचानूंगा। अस्पृश्यता एक रोग की भांति है और इसे समाप्त किया जाना ही चाहिए। हिन्दू समाज एक ऐसी मीनार की भांति था जिसमें अनेक मंजिलें थीं और उसमें जाने के लिए न कोई सीढ़ी थी और न प्रवेश द्वार था एक व्यक्ति को उसी मंजिल में मरना होता था जिसमें उसका जन्म हुआ था।" तिलक, जिन्होंने यह नारा दिया था कि "स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है", उन्होंने भी यह कहा था कि "वह स्वराज, जिसमें दलितों के मौलिक अधिकारों की कोई गारंटी नहीं होगी, वह उनके लिए स्वराज नहीं होगा। यह उनके लिए एक नई दासता होगी।"

अम्बेडकर निर्धनता और अस्पृश्यता की राख से उठे। वह भारत के राजनीतिक दृश्य

---

*श्री मुरलीधर सी० भंडारे, संसद सदस्य (राज्य सभा) हैं।

पर एक असाधारण प्रतिभा वाले व्यक्ति थे जिन्होंने दलित वर्गों का, उन दलितों का प्रतिनिधित्व किया, जो भूखों मरते थे, वंचित थे और दासता की बेड़ियों मे जकड़े हुए थे। उनके अनुसार दलितों, जिन्हें संविधान में अनुसूचित जाति कहा गया है। अस्पृश्यता के बंधन से मुक्त करना था और उनके स्तर को सामाजिक, शैक्षिक तथा आर्थिक पिछड़ापन दूर करके ऊपर उठाना था। इस उद्देश्य को प्राप्त करने हेतु उन्होंने बिना किसी रुकावट के निम्न स्तर से कार्य प्रारम्भ किया। उन्होंने दलितों को अपने नेतृत्व के अंतर्गत संगठित करने और उनमें एकता पैदा करने के लिए देश और विदेश का भ्रमण किया। उन्होंने इस उद्देश्य के लिए बिना थकावट और रुकावट के भाषण दिए तथा लिखा। इस प्रकार मई, 1936, में बंबई में महारों के हुए एक सम्मेलन में उन्होंने अध्यक्ष के रूप में अपना पचास पृष्ठों का भाषण दिया। उन्होंने दलितों के अधिकारों के समर्थन में विस्तृत और निश्चायक पत्र, ज्ञापन, प्रारूप, घोषणाएं और योजनाएं प्रस्तुत कीं। साइमन कमीशन के समक्ष उनके साक्ष्य, लंदन में आयोजित भारतीय गोलमेज सम्मेलन के दोनों सत्रों के समक्ष प्रस्तुत प्रारूप दिये गये भाषण और इन सबसे ऊपर संविधान के समक्ष प्रस्तुत पत्रों और दिये गये भाषणों ने उनके समुद्र के समान विस्तृत संवैधानिक ज्ञान और भागीरथी प्रयासों की पुष्टि की। ये भारतीय संवैधानिक इतिहास का एक अंग हैं। उन्होंने अपने पूरे जीवन काल में अपनी मातृभूमि के लोगों को स्वतंत्रता, समानता, तथा भाईचारे का रास्ता दिखलाने हेतु संघर्ष और कुर्बानी की।

अम्बेडकर को अपने उद्देश्य की स्पष्ट जानकारी थी। अनुसूचित जातियों को समानता दिलाने के लिए उनका पहला कदम इनके हाथों में राजनैतिक शक्ति देना था। राजनैतिक शक्ति उन्हें तभी प्राप्त हो सकती है जबकि सरकार उनकी बात सुने। मन्दिर में प्रवेश का मुद्दा प्रासंगिक था। किन्तु उनके अनुसार राजनैतिक अधिकारों की समस्या मन्दिर प्रवेश की समस्या से अधिक महत्वपूर्ण थी। इसलिए उनके सामाजिक उत्थान, आर्थिक उन्नति और शैक्षिक पिछड़ेपन को दूर करना — ये सभी अनुसूचित जातियों के राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने से उपलब्ध की जा सकती है।

ब्रिटिश सरकार की भारत के मामले में सदैव फूट डालो और राज करो की नीति रही। इसे एक सिद्धांत द्वारा कायम रखा जाता था कि दो समुदायों द्वारा अपनी भलाई के लिए साथ-साथ मतदान नहीं किया जा सकता। अक्तूबर, 1908 में भारत के तत्कालीन वायसराय मिन्टो ने सेक्रेटरी आफ स्टेट से सिफारिश की थी कि मुसलमानों के लिए

अलग निर्वाचन-क्षेत्र मंजूर किये जाने चाहिए। उन्होंने लिखा था कि "भारतीय मुसलमान किसी धार्मिक संस्था से ऊपर हैं। इनका वास्तव में एक अलग समुदाय है, जिनके विवाह, भोजन, रीति-रिवाज अलग-अलग हैं और अन्य कई मामलों में ये हिन्दुओं के समुदाय से अलग हैं।"

यह विकास श्रृखंला के प्रारम्भिक केन्द्र का द्योतक है जिससे अंततः 1947 में भारत का खूनी विभाजन हुआ और दो पृथक देश बने। इस नीति के दुष्प्रभावों को भारतीय नेताओं ने आरंभ में ही पहचान लिया था। गोपाल कृष्ण गोखले ने कहा था कि "जातियों तथा पंथों की पहचान करने के सिद्धांत को सरकार की ओर से प्रोत्साहित करने की आवश्यकता नहीं हैं क्योंकि इसके कारण हितों का विभाजन ही इस देश में अनिष्ट का कारण रही हैं।"

कदम-दर-कदम साम्प्रदायिक दावों की पहचान और साम्प्रदायिक हित ही भारत में ब्रिटिश राज्य की आधारभूत नीति का अंग बन गये। 1919 के अधिनियम में भारत के इतिहास में पहली बार दलित वर्गों की मौजदूगी को मान्यता दी गई। केन्द्रीय विधान सभा के लिए गवर्नर जनरल द्वारा नामांकित किए गए 14 गैर-सरकारी सदस्यों में से एक सदस्य दलित वर्गों का प्रतिनिधि था। प्रान्तीय विधानमंडलों में दलित वर्गों का सेंट्रल प्रोविन्सिस में प्रतिनिधित्व 4 व्यक्तियों का नामांकन करके किया गया था।

राजनैतिक दृश्य में बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी। ब्रिटिश शासकों ने इस वास्तविकता को जान लिया था कि लाखों भारतीयों की स्वराज की आकांक्षा को लम्बे समय तक नहीं दबाया जा सकता। 1928 में साइमन कमीशन भारत आया। साइमन कमीशन की यात्रा से डा० अम्बेडकर को अनुसूचित जातियों को प्रभावी शक्ति प्रदान करने की मांग को शीघ्र उठाने का अवसर मिला। साइमन कमीशन को प्रस्तुत किए गए ज्ञापन में उन्होंने संयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों तथा अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित सीटों की मांग की। वे आगे भी अपनी बात रखते गए। उन्होंने मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्रों की मांग का विरोध किया।

यह बाद की बात है जब डा० अम्बेडकर ने गांधी जी द्वारा दलित वर्गों के लिए सुरक्षित सीटें रखने का विरोध करने पर अपने दृष्टिकोण में पूर्णतः परिवर्तन कर लिया। उन्होंने संयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों की मांग को अस्वीकार कर दिया और पृथक निर्वाचन क्षेत्रों की मांग करना आरंभ किया। इसके कारण गांधी जी और अम्बेडकर के बीच कटु दरार पड़ गई जिससे गांधी जी ने यरवदा जेल में उपवास रखा और गांधी तथा अम्बेडकर के बीच अन्तिम समझौता प्रसिद्ध पूना पैक्ट के रूप में हुआ।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट मई, 1930 में प्रस्तुत की गई। साइमन कमीशन ने स्वीकार

किया कि मुसलमानों को पृथक प्रतिनिधित्व देना आम नागरिक के उत्थान में अवरोध के समान था। इसके बावजूद जैसा कि आशा थी, इसने भारतीय राजनीतिक दलों के बीच किसी सहमत समझौते की अपेक्षा के लिए भारतीय चुनावों में पृथक निर्वाचन क्षेत्रों को जारी रखने की सिफारिश की। इसने नेहरू की रिपोर्ट और भारतीय राष्ट्रवाद की प्रकृति को मानने से अस्वीकार कर दिया। दलित वर्गों के लिए साइमन कमीशन ने आरक्षित सीटों के साथ मिले-जुले निर्वाचन क्षेत्रों का प्रस्ताव किया किन्तु दलित वर्गों के किसी भी प्रत्याशी को तब तक चुनाव में खड़ा होने की इजाजत नहीं थी कि जब तक कि किसी प्रांत के गवर्नर द्वारा उसकी योग्यता को प्रमाणित न कर दिया जाये। यह कमीशन की इस जानकारी के बावजूद हुआ था कि दलित वर्गों को मनोनीत करने से कोई प्रगति नहीं हो पाएगी क्योंकि मनोनीत करने से उन्हें राजनीति में प्रशिक्षण प्राप्त करने के अवसर नहीं मिल पाएंगे।

अम्बेडकर ने उस प्रावधान को स्वाभांविक रूप से अस्वीकृत कर दिया जो गवर्नर को किसी उम्मीदवार की उपयुक्तता को प्रमाणित करने को प्राधिकृत करता है और जो यहां तक कि दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व करने हेतु गैर दलित वर्ग से किसी सदस्य का चयन करने के लिए अधिकार प्रदान करता है। उनके लिए यह एक चुनाव न होकर एक शुद्ध और साधारण रूप में नामांकन करना है।

अम्बेडकर ने अपनी मांग में पृथक निर्वाचन क्षेत्रों पर जोर दिया। उनकी धारणा बहुत सरल थी। उनका कहना था "कि किसी भी देश द्वारा दूसरे पर शासन करना कल्याणकारी नहीं हो सकता और इसी प्रकार यह भी सच है कि किसी भी वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर शासन करना कल्याणकारी नहीं हो सकता।" उन्होंने बिना किसी सीमा अथवा शर्त के चाहे वे कैसी भी क्यों न हो अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार प्रतिनिधि चुनने के अधिकार पर जोर दिया। उन्होंने महसूस किया कि शक्तियों के स्थानांतरण की परिणति समाज में संचालित शक्तियों, सापेक्षिक अनुपात में सही मायने में एक सामाजिक परिवर्तन के रूप में होनी चाहिए। वह जानते थे कि केवल स्वराज में संविधान के अंतर्गत ही सही मायने में राजनीतिक शक्ति लोगों के हाथों में आएगी। यह अनुसूचित जातियों के लिए अंतिम लक्ष्य था।

साइमन कमीशन के बाद संचालन दृश्य खिसक कर लंदन में आयोजित भारतीय गोलमेज सम्मेलन के दो सत्रों में चला गया। पहले सत्र का, जो 12.11.1930 और 1.12.1931 के बीच हुआ था, कांग्रेस ने बहिष्कार किया था। द्वितीय सत्र, में कांग्रेस ने गांधी जी के नेतृत्व में हिस्सा लिया, जो 7.9.1930 के लेकर 1.12.1931 तक चला था।

पहले गोलमेज सम्मेलन में अम्बेडकर ने एक राष्ट्रभक्त के रूप में तथा दलित वर्गों के

सबसे बड़े हितैषी रूप में अपनी अभिव्यक्ति देते हुए कहा कि भारत में सभी अस्पृश्य "वहां वर्तमान दफ्तरकारी सरकार को जनता की सरकार, जनता के लिए और जनता द्वारा चुनी हुई सरकार" के द्वारा बदलने के लिए कार्य कर रहे हैं। उन्होंने एक ऐसे संविधान की मांग की जिसमें एक उत्तरदायी तथा प्रतिनधित्व करने वाली सरकार की व्यवस्था हो और जो लोगों को स्वीकार्य हो। उन्होंने कहा "मुझे इसका भय है कि इस बात को पर्याप्त रूप से नहीं समझा गया है कि कोई भी संविधान जो बहुसंख्य लोगों को स्वीकार्य नहीं है, सुचारू रूप से कार्य कर सकेगा। वह समय कभी वापस न आने के लिए चला गया है, जब आप चयन करते थे और भारत को उसे स्वीकार करना पड़ता था। अगर आप चाहते हैं कि इसका निर्माण अच्छी तरह से किया जा सके तो आइए तर्क का सहारा न लेकर लोगों की स्वीकृति को हम अपने नये संविधान की कसौटी मानें।

दलित वर्ग के नेता के रूप में उन्होंने उनको राजनीतिक शक्ति प्रदान का इस प्रकार शब्दों में आग्रह किया। हमें अकसर यह स्मरण कराया जाता है कि दलित वर्ग के लोगों की समस्या एक सामाजिक समस्या है और इसका समाधान राजनीति में न होकर, कहीं और छिपा हुआ है। हम इस दृष्टिकोण का कड़ा विरोध करते हैं। हमारा यह विचार है कि दलित वर्ग के लोगों की समस्या का समाधान तब तक नहीं हो सकेगा जब तक कि स्वयं उनके हाथ में राजनीतिक शक्तियां प्रदान नहीं की जाती हैं —

> "हम महसूस करते हैं कि जितनी अच्छी तरह स्वयं हम अपनी दुःख तकलीफों को दूर कर सकते हैं उतनी अच्छी तरह से कोई और नहीं कर सकता और हम उन्हें तब तक दूर नहीं कर सकते जब तक कि हमारे हाथ में राजनीतिक शक्ति नहीं आती। मुझे आशंका है कि दलित वर्ग इतने लम्बे समय तक कुछ कर दिखाने के लिए क्यों इंतजार करता रहा है।"

अम्बेडकर दूसरा गोलमेज सम्मेलन शुरू होने से पूर्व गांधी जी से मिले थे। महादेव देसाई ने रिकार्ड किया है कि बैठक के पश्चात् गांधी जी को दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने हेतु लन्दन जाने के समय तक यह मालूम नहीं था कि अम्बेडकर एक हरिजन थे। उनका विचार था कि वह कोई ब्राह्मण थे, जो हरिजनों के उत्थान में गहरी रूचि रखते हैं, और इसीलिए, उनके पक्ष में बोलते हुए असंयमी हो जाते हैं।

अम्बेडकर का जीवनी लिखने वाले धनंजय कीर ने गांधी और अम्बेडकर के बीच हुई मुलाकात को बड़ी सजीवता से रिकार्ड किया है, जिसके कुछ अंशों को उद्धृत करना उपयुक्त होगा —

"अम्बेडकरः गांधी जी, मेरा अपना कोई देश नहीं है।

गांधीः (हतप्रभ होकर बीच में ही टोकते हुए) आपका अपना देश है और गोलमेज सम्मेलन में आप द्वारा किए कार्यों की रिपोर्ट मुझे प्राप्त हुई है। मैं जानता हूं कि आपमें एक सच्चे देशभक्त के सारे गुण मौजूद हैं।

अम्बेडकरः आप कहते हैं कि मेरा कोई स्वदेश है पर मैं अभी भी कहता हूं कि मैं इसके बिना हूं। मैं उस देश को और उस धर्म को अपना देश, अपना धर्म कैसे कह सकता हूं जहां हमारे साथ बिल्लियों और कुत्तों से भी बदतर सलूक किया जाता है, जहां हमें पीने के लिए पानी भी नहीं मिल पाता? कोई भी स्वाभिमानी अस्पृश्य कहा जाने वाला व्यक्ति ऐसे देश पर गर्व नहीं कर सकता। इस देश में हमारे साथ इतना अन्याय किया जा रहा है और हमें इतनी यातनाएं दी जा रही हैं कि अगर जाने-अनजाने में हमारी इसके प्रति अनिष्ठा हो जाए तो इसकी सारी जिम्मेदारी केवल इस देश की होगी यदि मुझे देशद्रोही करार दिया जाता है तो मुझे इसके लिए कोई दुख नहीं है, क्योंकि हमारे सारे कृत्यों के लिए यह देश ही उत्तरदायी है जो मुझे ऐसी उपाधि प्रदान करता है। यदि मैंने इस देश के लिए लोक-कल्याण प्रेरित कोई लाभदायक और उपयोगी राष्ट्रीय सेवा की है, जैसा कि आपने कहा है, देश भक्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए कुछ किया है तो यह अपने निष्कलंक अंतःकरण की आवाज पर किया है, न कि किसी देशभक्ति की भावना के कारण। यदि मैं वर्षों से इस देश में दबाए, सताए गए अपने लोगों को मानव अधिकार दिलाने के प्रयास में कोई उपकार इस देश के प्रति कर जाता हूं तो यह कोई पाप नहीं कहलाएगा; और यदि मेरे कृत्यों से इस देश को कोई नुकसान नहीं होता है तो हो सकता है ऐसा मेरे अंतःकरण के कारण न हुआ हो। अपने अंतःकरण से प्राप्त प्रेरणा के कारण ही मैं इस देश को बिना कोई क्षति पहुंचाए अपने लोगों को मानव अधिकार दिलवाने के लिए संघर्ष कर रहा हूं।

सभी जानते हैं कि मुसलमान तथा सिख सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक दृष्टि से अस्पृश्यों के मुकाबले काफी उन्नतः हैं: गोलमेज सम्मेलन के प्रथम सत्र में मुसलमानों को राजनैतिक मान्यता प्रदान की गई है तथा उनके लिए राजनीतिक सुरक्षा की सिफारिश की गई है कांग्रेस उनकी मांगों से सहमत हो गई है प्रथम सत्र में ही दलित वर्ग के राजनैतिक अधिकारों को भी मान्यता प्रदान की गई है

तथा उनकी उन्हें राजनीतिक सुरक्षा और पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिए जाने के लिए सिफारिश की है। हमारे विचार से यह दलित वर्ग के लोगों के लिए लाभप्रद है। आपका का क्या विचार है?

गांधी जीः मैं अस्पृश्यों के हिन्दुओं से राजनीतिक पृथक्करण के खिलाफ हूँ। वह पूरी तरह से आत्मघाती सिद्ध होगा"।

बैठक समाप्त हो गई, पर, इस मुद्दे को दूसरे गोलमेज सम्मेलन में ले जाया गया। अम्बेडकर ने यह स्पष्ट कर दिया और यह घोषणा की कि दलित वर्ग के लोगों को वह संविधान कदापि स्वीकार्य नहीं होगा जिसमें उनके लिए एक पृथक निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था न की गई हो। डा० अम्बेडकर ने जोर देकर कहा कि आरक्षित सीटों के साथ संयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों में दलित वर्ग के उम्मीदवारों को निर्वाचन क्षेत्रों के बहुमत की कृपा पर निर्भर रहना पड़ेगा और उनके मत प्राप्त करने के लिए उनहें अपने पूर्वाग्रहों में पूरे कार्य में सहायक होना पड़ेगा अथवा बहुमत समुदाय की कठपुतलियों द्वारा सीटों पर कब्जा करने की हर संभावना वहां मौजूद होगी।

गांधी जी के अनुसार, पृथक निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था से हिन्दुओं में विभाजन पैदा होगा, जिसे स्वीकार करने के लिए वह तैयार नहीं थे, "अस्पृश्यों का कल्याण मुझे जीवन की भांति ही प्रिय है," उन्होंने घोषणा की, "मैं इस जीवन का पूरे विश्व पर हुकूमत करने के लिए भी सौदा नहीं करूंगा। अतः मैं पूरा जोर देकर यह कहना चाहता हूं कि यदि मैं इसका विरोध करने के लिए केवल अकेला व्यक्ति ही रहूँगा तो मैं इसका विरोध अपनी जान देकर भी करूँगा" परवर्ती घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि वह धमकी खोखली नहीं थी।

दूसरे गोलमेज सम्मेलन के उपरान्त, ब्रिटिश प्रधान मंत्री, रैम्से मैक्डोनाल्ड ने अपना निर्णय दिया जिसे अब सांप्रदायिक अधिनिर्णय के रूप में जाना जाता है तथा सरकारी रूप से जिस अधिनिर्णय की घोषणा 17 अगस्त, 1932 को की गई थी अधिनिर्णय के अनुसार दलित वर्गों के लिए अलग चुनाव क्षेत्र दिये गये। इसके अतिरिक्त अधिनिर्णय द्वारा उन्हें वोट देने का दोहरा अधिकार भी दिया गया जिसके अन्तर्गत वे स्वयं अपने प्रतिनिधि चुनने और आम चुनाव क्षेत्र में भी वोट डाल सकते थे। 20 वर्ष के बाद सीटों के आरक्षण और विशिष्ट निर्वाचक मंडल ने स्वतः ही समाप्त हो जाना था। इसमें मुसलमानों, सिखों, योरोपियनों और क्रिश्चयनों के लिए भी अलग निर्वाचन मण्डल था। अधिनिर्णय से भारत पूरी तरह विभाजित हो गया। जब साम्प्रदायिक अधिनिर्णय की घोषणा की गई थी तो दलित वर्गों के लिए अलग निर्वाचन मण्डलों को समाप्त न किए जाने की स्थिति में गांधी जी ने आमरण अनशन की घोषणा कर दी। अनशन 20 सितम्बर, 1932 को शुरू हुआ

और 27 सितम्बर, 1932 को समाप्त हुआ। अनशन के दौरान, गांधी जी ने घोषणा की "मेरी आत्मा का दुख तब तक समाप्त नहीं होगा जब तक अस्पृश्यता का एक-एक चिन्ह समाप्त नहीं हो जाता है।" दो चीजें मुख्य थीं। गांधी जी के जीवन को बचाना था और अस्पृश्यता के दाग को भी शीघ्र मिटाना था।

पंडित मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में हिन्दू नेताओं का सम्मेलन 19 सितम्बर, 1932 को बम्बई में हुआ जिसमें अम्बेडकर ने भाग लिया। यह दो दिन तक चला। सारा देश दम साधे अम्बेडकर की तरफ देख रहा था कि क्या यह व्यक्ति महात्मा के जीवन को बचा पाएगा। दोनों ओर से भारी सौदेबाजी हुई थी।

21 सितम्बर को तेज बहादुर सप्रू ने कुछ सीटों के लिये पहले और दूसरे दौर के चुनावों की योजना तैयार की जिसके अनुसार दलित वर्गों को प्रत्येक सीट के लिए तीन उम्मीदवारों के एक पैनल का चुनाव करना था और इसके बाद चुने हुए तीन उम्मीदवारों में से एक को सवर्ण हिन्दुओं और दलित वर्गों के संयुक्त निर्वाचन मण्डल द्वारा चुना जाना था। अम्बेडकर ने यह प्रस्ताव मान लिया लेकिन इस बात पर जोर दिया कि उन्हें प्रधान मंत्री के निर्णय से दी गई 71 सीटों के स्थान पर 197 सीटें दी जाएं। हिन्दू नेता गांधी जी से मिले। उन्होंने आरक्षित सीटों के बंटवारे के बारे में सन्देह प्रकट किया और महसूस किया कि पहले और दूसरे दौर की प्रणाली सभी सीटों के लिए एक समान होनी चाहिए न केवल कुछ सीटों के लिए।

अम्बेडकर गांधी जी से जेल में मिले। उनके पास न केवल गांधी बल्कि प्रतिकूल जनमत का विरोध करने की भी दृढ़ इच्छा शक्ति थी। अधिकांश बात अम्बेडकर ने ही की, गांधी जी कमजोर और थके हुए थे, सुनते रहे। अन्त में गांधी जी ने उत्तर दिया: "मेरी पूरी सहानुभूति है। डाक्टर, आपकी अधिकांश बातों में मैं आपसे सहमत हूं। परन्तु आप कहते हैं कि मेरी रूचि आपके जीवन में है" उत्तर में अम्बेडकर ने कहा, 'हां', महात्माजी यदि ऐसा है तो यदि आप हमारे लोगों के लिए अपना समय देंगे तो आप हमारे नायक भी बन जाएगें।" "अच्छा यदि ऐसा है तो आप जानते हैं कि इसको बचाने के लिए आपको क्या करना होगा। ऐसा कहो और मेरा जीवन बचाओ। मैं जानता हूं कि आप उसको नहीं छोड़ना चाहते जो अधिनिर्णय द्वारा आप लोगों को मिला है। मुझे आपकी पैनल प्रणाली मंजूर है लेकिन आपको इसमें से एक विसंगति हटानी होगी। आपको सभी सीटों पर पैनल प्रणाली लागू करनी चाहिए। आप जन्म से अस्पृश्य हैं और मैं स्वेच्छा से। हमें एकजुट और अविभाज्य होना होगा। मैं हिन्दू समाज का विघटन बचाने के लिए अपना जीवन देने के लिए तैयार हूं।"

अम्बेडकर ने सभी सीटों के लिए पहले दौर के चुनावों का गांधी जी का सुझाव मान

लिया। बकाया मुद्दों पर भी चर्चा जारी रही। मुख्य रूप से सीटों की संख्या और अन्त में समय सीमा को निर्धारित करने के लिए विशेष प्रावधान जैसे पहले दौर के चुनाव और सीटों के आरक्षण को समाप्त करना था। अम्बेडकर की योजना में यह व्यवस्था थी कि पहले दौर के चुनावों की प्रणाली 10 वर्ष बाद स्वतः समाप्त हो जानी चाहिए लेकिन आरक्षित सीटों के प्रश्न का निर्णय आगामी 10 वर्ष के अन्त में दलित वर्गों के जनमत संग्रह द्वारा किया जाएगा। जनमत संग्रह एक पेचीदा मामला बन गया। अम्बेडकर ने यह मानने से इन्कार कर दिया कि अस्पृश्यता को अगले 20 वर्षों तक दूर कर दिया जाएगा। गांधी जी 5 वर्ष के बाद में जनमत संग्रह चाहते थे। बैठक बिना किसी समझौते के समाप्त हो गई। अम्बेडकर अगले दिन दोपहर में गांधी जी से फिर मिले। गांधी जी ने निर्णायक स्वर में कहा, "आप सुनिए, 5 वर्ष या मेरा जीवन" वे लौट गये। श्री गोपालाचारी के सुझाव पर यह सहमति हुई कि भविष्य में जनमत-संग्रह के प्रश्न का निर्णय आपसी समझौते द्वारा किया जाएगा। समझौते पर सबकी उपस्थिति में अनशन के 5वें दिन शनिवार की शाम 5 बजे हस्ताक्षर किए गए, यद्यिपि गांधी जी ने इस पर हस्ताक्षर नहीं किए। अम्बेडकर ने दलित वर्गों की ओर से इस पर हस्ताक्षर किए । गांधी जी के अनशन के परिणामस्वरूप समूचे देश में अस्पृश्यता के विरुद्ध उग्र चेतना जगी। यद्यपि इससे काफी दुर्भावना भी बढ़ी और व्यक्तिगत रूप से अम्बेडकर के विरुद्ध घृणा फैली। अम्बेडकर को दलित वर्गों के सच्चे नेता के रूप में मान्यता मिली। ब्रिटिश सरकार के 26 सितम्बर, 1932 को पुनः समझौते पर हस्ताक्षर करने के बाद अनशन तोड़ा गया। पूना समझौते के अन्तर्गत दलित वर्गों को 148 सीटें मिली जो ब्रिटिश प्रधान मंत्री द्वारा दी गई सीटों के दुगने से ज्यादा थी लेकिन अलग निर्वाचन मण्डलों को समाप्त कर दिया गया और दलित वर्ग के सदस्यों को स्वयं को सामान्य मतदाता सूची में दर्ज कराना था। उनको एक निर्वाचन मण्डल गठित करना था जिसको प्रारम्भ में पहले दौर के चुनाव में प्रत्येक सीट के लिए 4 उम्मीदवारों को चुनना था। ये चार आम चुनाव के लिए उम्मीदवार थे और दलित वर्गों और अन्य दोनों के निर्वाचन क्षेत्र में आम चुनाव का समय बढ़ा दिया गया था।

अलग निर्वाचन मण्डल की मांग करने के लिए अपने तर्कसंगत निष्कर्ष सहित अम्बेडकर ने 24 मार्च, 1947 को राज्यों और अल्पसंख्यकों के अधिकार पर प्रस्तुत किए गए अपने ज्ञापन और प्रारूप लेख में दोहराया है। इस प्रारूप में उन्होंने अलग निर्वाचन मण्डल की प्रणाली को समाप्त करने की मांग की। इस बीच पूना समझौते के बाद 15 वर्ष बीत गये लेकिन अनुसूचित जनजातियों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। यह ज्ञापन स्वतंत्रता की भोर और विभाजन के समय देश में खून की नदी बहने से पहले पेश किया गया था। अतीत में भिन्न निर्वाचन मण्डल प्रणाली के कारण साम्प्रदायिक मतभेद

खतरनाक स्थिति तक बढ़ गए और स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन के विकास में मुख्य बाधा सिद्ध हुई।

तथापि अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित सीटें यथावत बनी रही। वे उन सदस्यों का मखौल उड़ाते थे जो जोश देकर कहते थे कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के आरक्षण को 10 वर्षों बाद समाप्त कर दिया जाना चाहिए। उन्होंने कहा, "एडमन्ड बर्क के शब्दों में मैं उनको यह कहना चाहता हूं कि, कि विशाल साम्राज्य और संकीर्ण मनोवृतियां एक साथ नहीं रह सकते हैं।"

अम्बेडकर इतने सही थे कि आरक्षण की अवधि को बढ़ाने के लिए अनुच्छेद 334 में बार-बार संशोधन करना पड़ा। नवीनतम संविधान (62वां संशोधन) अधिनियम, 25 जनवरी, 1990 को अन्तर्विष्ट किया गया, जिसमें यह व्यवस्था की गई है कि सीटों का आरक्षण संविधान लागू होने के बाद 50 वर्ष तक जारी रहेगा।

देश की राजनैतिक संस्थाओं में अनुसूचित जनजातियों के प्रतिनिधियों की उपस्थिति से अनुसूचित जातियों के लोगों के सामाजिक और आर्थिक विकास पर बहुत कम प्रभाव पड़ा। यहां तक कि संविधान के अनुच्छेद 15(4), 16(4) 46, 330, 332 और 335 के अन्तर्गत बनाए गए विशिष्ट प्रावधान भी अनुसूचित जातियों की समस्याओं को हल करने में असफल रहे हैं। सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक रूप से वे आज भी समाज में सबसे नीचे हैं। समानता के अवसर और दर्जा आज भी उनके लिए सपना बना हुआ है। उन पर लगातार अत्याचार हो रहे हैं। उनके लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय स्वप्न मात्र हैं। आजादी, समानता और भाईचारा केवल उनके लिए खोखले नारे हैं।

अम्बेडकर एक हताश व्यक्ति की मौत मरे। संविधान और हिन्दू कोड की वेदी पर मनुस्मृति को जलाने का उनका प्रयास असफल रहा। यदि वह आज जीवित होते तो क्या सोचते जब साम्प्रदायिक और जातिगत विद्वेष चरम सीमा पर है। बहुत समय पूर्व 1929 में अम्बेडकर ने लिखा था कि, "मेरे विचार से आज समय की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता लोगों में सामान्य राष्ट्रीयता की भावना पैदा करने की है। ऐसी भावना नहीं कि वे सबसे पहले भारतीय हैं और बाद में हिन्दू, मुसलमान अथवा सिंधी और कराड़ी हैं, वे प्रारम्भ से अन्त तक भारतीय हैं", स्वतंत्र भारत के लिए आज ये शब्द और भी संगत हैं।

स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे को मजबूत बनाने और इस देश को संगठित महान राष्ट्र बनाने के लिए भारत को आज एक और अम्बेडकर की आवश्यकता है।

4

डा० बी० आर० अम्बेडकर

— एस० निजलिंगप्पा*

डा० अम्बेडकर स्वतंत्रता के पूर्व और बाद में भारत के सार्वजनिक जीवन में एक अद्‌भुत और असाधारण नेता थे। एक हरिजन परिवार में जन्म लेकर जिनके साथ सामाजिक भेदभाव होता था उन्होंने देश तथा विदेश के विश्वविद्यालयों की उच्चतम योग्यताओं के साथ उच्च शिक्षा प्राप्त की। वह उच्च कोटि की समझ वाले व्यक्ति थे वह निर्भीक साहसी, व्यावहारिक दृष्टिकोण और कुशाग्र बुद्धि के थे। सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं के संबंध में उनके स्वतंत्र विचार थे। दलित लोगों को सर्वण हिन्दुओं द्वारा बहिष्कृत जात का कहे जाने वाले जिनको गांव के अन्दर रहने की अनुमति नहीं थी और बाहर झोपड़ियों, में गंदगी में, दरिद्रता और अमानवीय स्थितियों में रहना पड़ता था, उनकी इस स्थिति को देखकर उन्हें बहुत दुख हुआ। जिनको विभिन्न भाषाओं में "अछूत" के रूप में विभिन्न नाम दिये जाते थे, और जिनको गांधी जी ने उनके प्रति अपने विशेष स्नेह के कारण "हरिजन" नाम दिया जो कि पिछले चार-पांच दशकों से प्रसिद्ध है। स्वयं के हरिजन होने और विशेष अध्ययन से उन्होंने उन अमानवीय स्थितियों को समझा और अनुभव किया जिन के कारण हिन्दू समाज धर्मशास्त्रों के आधार पर उनको अलंघ्य समझा था और इन अमानवीय और गिरी हुई प्रथाओं के यश में तर्क दिया जाता था, इससे वे स्वभाविक रूप से बहुत खिन्न और दुखी थे। अपने लोगों के साथ इस भेदभावपूर्ण अनुभव के कारण और अपने व्यवहारवादी होने के कारण उनका हिन्दू धर्मग्रन्थों और यहां तक की रामायण और महाभारत के प्रति भी कठोर भावना रखना स्वाभाविक था। इन दो महाकाव्यों चाहे वे विश्व साहित्य में बेजोड़ हैं के बारे में उन्होंने जो लिखा है यद्यपि वह अस्वीकार्य और पूर्वाग्रह से पूर्ण जान पड़ता है तो भी उस पर ध्यान देने और सहानुभूतिपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

हरिजनों के हिन्दू समाज में शामिल होने या ने होने के प्रश्न पर गांधी जी के साथ

---

*श्री निजलिंगप्पा संविधान सभा के एक सदस्य और कर्नाटक के भूतपूर्व मंत्री थे।

उनके मतभेद थे। जिसके कारण गांधी जी को "आमरण अनशन" करना पड़ा परन्तु सौभाग्य से जय-गुरु (एम.आर. जयकर और तेज बहादुर सप्रु) समझौता हुआ था। यह कोई समझौता न होने के बाद भी समझदारी और सहानुभूति का विषय था। वे इसके लागू किये जाने के तरीके से संतुष्ट नहीं थे । वे इस विषय में बहुत संवेदनशील थे।

उन सभी बातों के कारण उन्होंने यह निश्चय किया कि उन्हें केवल बौद्ध धर्म में दीक्षा लेने पर ही शान्ति मिलेगी। उन्होंने उस दर्शन को स्वीकार किया जो असमानताओं और विभिन्नताओं को दूर करता है और उनके काफी संख्या में अनुयायी बौद्ध हुए। यह मनोविज्ञान कुछ हरिजनों में अभी भी कार्य कर रहा है। यद्यपि भारतीय संविधान के लागू होने के उपरान्त इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। इसके साथ ही स्वतंत्रता के बाद के 43 वर्षों में जो कुछ होता रहा है उस पर भी ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है। हालांकि भारत सरकार राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के बहुत से बड़े मुद्दों को लागू करने में असफल रही है।

एक बात स्पष्ट है। वह धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और ऐसे ही अन्य क्षेत्रों में भी भेदभाव व असमानता के तीव्र विरोधी थे। इसी कारण वे 12वीं शताब्दी के कर्नाटक के एक कलाचूर्या राजा श्री बासवेश्वर जो बिजाला के मुख्य मंत्री थे और जो आज तक के शायद सबसे महान क्रान्तिकारी थे के बहुत बड़े प्रशंक थे। आठ सौ वर्ष पहले उन्होंने ऐसे समाज के लिए कार्य किया था जिसमें देवी-देवताओं की भिन्नता नहीं थी, अत्यव्यवहारिक सनातन धर्म के अनुसार जिसमें जात-पात की भिन्नता न थी जिसमें औरतों को भी नीचा समझा जाता था, जिसमें जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य के गुलाम बने रहने के अलावा कोई अधिकार नहीं था, जातियां पेशे के अनुसार बंटी हुई थीं, जिसमें शोषणकारी पूजावृत्ति को उच्च स्थान प्राप्त था और धर्मकारों और धर्म शोधकों को समाज के सबसे निचले स्तर पर माना हुआ था और उन्हें अछूत बनाया हुआ था। उन्हें इससे घृणा हो गयी थी तथा इससे उनका मोह भंग हो गया था और वे ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक या राजनैतिक किसी भी प्रकार के शोषण का कोई स्थान न हो; जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को किसी उद्योग और (व्यवसाय) द्वारा अपने पसीने की कमाई पर निर्भर रहना पड़ता था तथा इसके कुछ हिस्से को अपने सामाजिक उद्देश्यों के लिए रखता था जहां मन्दिरों में पूजा करने वाले पुजारियों के रूप में केवल एक ईश्वर न हो बल्कि सभी व्यक्तियों में हो और समानरूप से महत्वपूर्ण हो, जहां

नारी को प्रत्येक प्रकार से पुरुष के समान समझा जाता था। इसके साथ ही यह महत्वपूर्ण है, कि उसमें सभी जातियों के पुरुष और नारी जो चाहे किसी भी कार्य में लगे हों और जो प्रत्येक शाम को समान शर्तों पर एक सभा में धार्मिक, दार्शनिक आदि विषयों पर अपनी राय प्रकट कर सकें। इसका परिणाम यह होता था कि वे अपने उच्च दार्शनिक विचारों को काव्यात्मक गद्य (वचन) को अपने क्षेत्र की साधारण बोल चाल की भाषा में प्रकट करते थे जो आसानी से समझी जा सकती थी। यह बहुमूल्य साहित्य विश्व में आज उपलब्ध भाषाओं की तुलना में बेजोड़ है। केवल भाषा ही कन्नड़ है। बासेश्वर अपने समय में इतने प्रगतिशील थे कि जब उन्होंने अपने सामाजिक न्याय के दर्शन का प्रयोग किया तो उन्होंने एक ब्राह्मण लड़की और हरिजन लड़के की शादी करवायी तो वहां अशांति और क्रांति हो गयी।

डा० अम्बेडकर की इन विचारों के साथ पूर्ण सहमति थी और इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उन्होंने इस सुधारक की प्रशंसा की थी और उन्होंने मुझे बताया था कि उनकी मृत्यु के पश्चात् जिनका उन्होंने धर्म परिवर्तन कराया है अन्य जातियों के हो जायेंगे। डा० अम्बेडकर ने कहा था कि इन वीरसाइबाओं या लिंगायतों ने बासेश्वर के विचारों को अपने तक सीमित रखा और उनके दर्शन को फैलाने और पनपने नहीं दिया।

परन्तु डा० अम्बेडकर का अपने देश तथा देशवासियों को महान योगदान यह है कि मुख्य रूप से उन्होंने भारतीय संविधान बनाया जो राष्ट्र के विकास, प्रगति और अस्तित्व का आधार है। सरदार बल्लभ भाई पटेल ने कहा था कि युगों पूर्व हमारे समाज में धर्मशास्त्रों के लेखक के रूप में ब्राह्मण मनु थे, भारतीय स्वतंत्रता के इस युग में हमारे पास इस कार्य के लिए एक हरिजन है। वास्तव में डा० अम्बेडकर व्यावहारिक रूप में भारतीय संविधान के जनक हैं। यद्यपि इसकी रचना में सहायता के लिए उनके साथ कुशल मस्तिष्क थे, इसका अधिकांश भार उनके कंधों पर था और उन्होंने इस कठिन कार्य को करके सम्पूर्ण राष्ट्र को संतुष्टि प्रदान की। सभी ने संविधान का ढांचा तैयार करने और इसके प्रत्येक अनुच्छेद के लिए उनका अत्यधिक सम्मान और प्रशंसा की। संविधान सभा के हम सभी सदस्यों को यह विश्वास हो गया था कि इस पवित्र कार्य को करने के लिए हमने सर्वोत्तम व्यक्ति का चयन किया है। मेरा विश्वास है कि इसे ठीक प्रकार से विरले ही कर सकते थे। डा० अम्बेडकर ने भारतीय संविधान के निर्माता के रूप में राष्ट्र की महानतम सेवा की है। देश उन्हें कृतज्ञतापूर्वक युगों-युगों तक याद करेगा।

(एस० निजलिंगप्पा)

5

अम्बेडकर : राष्ट्रीय नेता, विख्यात संसदविज्ञ, प्रमुख संविधान निर्माता

प्रो० पी० जी० मावलंकर*

उत्साह में निर्भीक, इच्छा शक्ति में अदम्य और कार्य में समझौता न करने वाले बी० आर० अम्बेडकर ने हमारे आधुनिक समय के संवैधानिक, ऐतिहासिक अभिलेख, संसदीय और राजनैतिक इतिहास में अपने लिए एक विशेष स्थान बनाया। कद और शक्ति में वे लम्बे और प्रतिभावान थे। परतंत्र और स्वतंत्र भारत के कुछ ही राजनीतिज्ञ अम्बेडकर के संघर्षों और सफलताओं से परिपूर्ण जीवन की तुलना में ठहर सकते हैं। उन्होंने लम्बे समय तक परिश्रम किया, कठोर प्रहार किया और निर्णायक ढंग से प्रहार किया। उन्हें अपने मिशन की स्पष्ट संकल्पना थी, जो उनकी दृढ़ धारणा के साहस से भलीभांति ओतप्रोत थी। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उन्होंने न स्वयं को और न ही दूसरों को छोड़ा।

भीमराव रामजी अम्बेडकर जन्म से ही विद्रोही थे। उन्होंने समाज में विद्यमान अन्याय और अनैतिकता के विरुद्ध बहादुरी से लड़ने को चुना। वास्तव में, अम्बेडकर ने उत्पीड़नवाली घर की पृष्ठभूमि को एक न्यायसंगत और समतावादी भारतीय समाज को बनाने के अत्यधिक आशाजनक अवसर में बदल दिया। उनकी कटुता के लिए प्रत्येक कारण मौजूद था, लेकिन उन्होंने "महार" समुदाय जिससे वे जन्म के संयोग से संबंधित थे, पर थोपे गये पिछड़ेपन से निरुत्साहित होने से इन्कार कर दिया। बाबा साहब अम्बेडकर अपने परिवार की परिस्थितियों से आसानी से ऊपर उठे लगातार शिक्षा ग्रहण करने और विवेकशील सम्यता से डा० बी० आर० अम्बेडकर ने आधुनिक भारत के अपने अनेक साथियों और समकालीनों की तुलना में स्वयं को अधिक प्रमाणित किया वे निसंदेह रूप से "दलित" थे लेकिन वे एक "दलित नेता" बिल्कुल भी नहीं थे। अम्बेडकर सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय नेता और एक उत्कृष्ट भारतीय थे। उन्हें अनुसूचित जातियों का नेता

*प्रोफेसर मावलंकर भूतपूर्व सदस्य (लोक सभा) हैं।

कहना, उनके साथ और हम सभी के प्रति अत्यधिक अन्याय करना होगा। अम्बेडकर को पूरे राष्ट्र के प्रति निष्ठावान होने के रूप में सुनिश्चित और सम्माननीय ख्याति प्राप्त है। उन्होंने भारत के सभी दलित और उत्पीड़ित वर्ग के लोगों की हिमायत की; इस विशाल उप-महाद्वीप के सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से बहिष्कृत और कम विकसित समुदायों के उत्थान के लिए उनके जिहाद भारत को सही अर्थों में एक स्वतंत्र और प्रजातान्त्रिक राष्ट्र बनाने के लिए थे।

बाबा साहब अम्बेडकर ने शिक्षा पर अत्यधिक और निरन्तर बल दिया, यही नहीं उनका नागरिकों को अच्छी और उचित शिक्षा दिलाने और उसको एक उपकरण मानने का दृढ़ विश्वास था। उनका मानना था कि अज्ञानता और असाक्षरता वास्तविक अभिशाप है; ये व्यक्ति को सभी प्रकार के बंधन और अज्ञानता में रखते हैं। अम्बेडकर ने अच्छी शिक्षा के असीम महत्व को समझा और यह जाना की केवल इसी से पुरुषों और महिलाओं के शरीर और आत्माओं को स्वतंत्रता प्रदान की जा सकती है। उन्होंने स्वयं सर्वोत्तम और देश और विदेश में उपलब्ध अधिकतर शैक्षणिक कौशल और विद्वत्ता को प्राप्त किया, और उन्होंने अपने महत्वपूर्ण और यशस्वी जीवन में शैक्षिणिक, व्यावसायिक और सार्वजनिक कार्यों में उत्तमता प्राप्त करने के लिए उनका पूरा प्रयोग किया और वे एक विद्वान राजनीतिज्ञ तथा विद्वान-राजनेता के रूप में चमके, जिन पर सारे भारत को नाज है।

डा० बी० आर० अम्बेडकर अत्यधिक व्यक्तिवादी (मूल प्रवृत्ति और प्रशिक्षण दोनों से) और उत्कृष्ट व्यक्तित्व के धनी थे। उन्होंने मूर्खों की प्रसन्नता कभी भी सहन नहीं की। वे किसी भी मत के अनमने और अधकच्चे नेताओं को आसानी से सहन नहीं करते थे। धर्मान्ध और निन्दनीय व्यक्तियों से यदि घृणा नहीं करते थे तो उन्हें पसन्द बिल्कुल भी नहीं करते थे। फिर भी विभिन्न व्यक्तियों के साथ अपने व्यवहार और कार्यों में, विशेषकर सार्वजनिक गतिविधियों के नियत क्षेत्रों में अपने साथियों के साथ, अम्बेडकर अधिकतम संभव सीमा तक विनीत और परोपकारी थे। यद्यपि उन्होंने आन्दोलनों का नेतृत्व किया और संगठन बनाये, फिर भी शायद, अम्बेडकर "संगठन व्यक्ति" नहीं थे। उन्होंने अपने व्यक्तियों को योग्यतापूर्वक और प्रशंसनीय नेतृत्व प्रदान किया और फिर भी कई प्रकार से वे अकेले प्रहरी रहे।

अम्बेडकर की संसदीय पारी की शुरुआत उनकी बम्बई विधान सभा की सदस्यता के धमाके से प्रारम्भ हुई। जिसके लिए वह 1937 में निर्वाचित हुए उन्होंने 19 जुलाई, 1937 को विधान सभा सदस्य के रूप में शपथ ग्रहण की। इससे पूर्व उन्होंने बम्बई विधान परिषद् के नामांकित सदस्य के रूप में सेवा की थी। जिसके लिए उन्हें 18 फरवरी, 1927

को शपथ दिलायी गयी थी। प्रत्येक वर्ष बजट पर उनके भाषणों में संक्षिप्तता और कुशलता होती थीं। उन्होंने अनेक सारगर्भित प्रश्न किये और टिप्पणियां कीं। उन्होंने फरवरी 1939 में बजट पर काफी लम्बा भाषण दिया और अनेक स्पष्ट और आलोचनात्मक टिप्पणियां की थीं। अम्बेडकर की विद्वता और वाक पटुता ने स्वाभाविक तौर पर समस्त सभा का ध्यान आकृष्ट किया। उनकी संसदीय अभिव्यक्ति और विवेकशीलता के अन्तर्गत सम्मिलित विभिन्न विषयों में विश्वविद्यालय और प्राथमिक शिक्षा, औद्योगिक विवाद, मद्यनिषेध, भाषायी राज्य, मंत्रियों के वेतन, द्वितीय विश्वयुद्ध में भारत द्वारा भाग लेना, आदि शामिल थे। उन्होंने शिक्षा की धीमी प्रगति विशेषकर महिलाओं में अत्यधिक कम प्रगति पर दुःख प्रकट किया। ("विद्यालय जाने योग्य आयु की लड़कियों को शिक्षा दिलाने में 300 वर्ष लगेंगे") उन्होंने इस बात पर भी दुःख प्रकट किया कि दलित वर्ग के लोग बुरी परिस्थितियों में विकसित हो रहे हैं। अम्बेडकर की सत्तारूढ़ दल कांग्रेस (प्रधान मंत्री, बी० जी० खेर, गृह मंत्री के० एम० मुंशी और अन्य) के साथ अनेक बार झड़प होती रहती थी। और अध्यक्ष महोदय (माननीय जी० वी० मावलंकर) को अक्सर उन सभी को डाँटना पड़ता था। 23 अगस्त, 1937 को डा० बी० आर० अम्बेडकर मंत्रियों के वेतन संबंधी विधेयक जिसे मेरे आदरणीय मित्र प्रधान मंत्री (बी०जी० खेर) द्वारा प्रस्तुत किया गया है पर एक संशोधन प्रस्तुत करने नहीं एक वक्तव्य देने के लिए खड़े हुए। अम्बेडकर का उक्त मसले पर मत-विभाजन कराने का कोई इरादा नहीं था। उनकी धारणा यह थी कि "उक्त विधेयक पर सभी की सहमति होनी चाहिए" और "इसे पूर्णतया सत्ता दल के मत द्वारा ही पारित करवाने की आवश्यकता नहीं है।" अतः वे उक्त विधेयक के सिद्धान्त का विरोध कर रहे थे। वे मंत्रियों के लिए मानक वेतन से सहमत नहीं थे। उन्होंने योग्यतापूर्वक इसके कारण बताये और तर्क दिए। तुलनात्मक तथ्यों और आंकड़ों का स्पष्ट रूप से विस्तृत ब्यौरा दिया। अम्बेडकर ने चार बातों का उल्लेख किया जिन्हें उनके विचार से एक मंत्री का वेतन निर्धारित करते समय ध्यान में रखा जाना चाहिए अर्थात "(1) मंत्रियों के सामाजिक स्तर को ध्यान में रखा जाना, जोकि निःसन्देह रूप से समुदाय के सामाजिक नेता हैं; (2) योग्यता को ध्यान में रखना; (3) प्रजांतन्त्र को ध्यान में रखना और (4) प्रशासन की प्रतिष्ठा और शुद्धता को ध्यान में रखना।" उन्होंने आगे कहा: "व्यक्तिरूप से मेरा यह विचार है कि देश के मंत्री जोकि देश के प्रथम नागरिक होते हैं, को एक ऐसा जीवन व्यतीत करना चाहिए, जो सभ्य हो, जो कला और शिक्षा का ध्यान रखे और जो शेष व्यक्तियों के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करें" उन्होंने इसकी व्याख्या की कि "अन्तिम तीन धारणाओं की मंत्रियों के वेतन निर्धारित करते समय कभी भी अनदेखी नहीं की जानी चाहिए"। उन्होंने मंत्रालय में योग्यता की आवश्यकता पर जोर दिया। उन्होंने आगे कहा कि "कार्यपालिका को बौद्धिक कुशलता की दृष्टि से विश्वसनीय होना

चाहिए।" जैसी कि प्रत्याशा थी, अन्त में सरकारी विधेयक पारित किया गया, परन्तु बम्बई शहर, बाईकुला और परेल के सुयोग्य एम० एल० ए० भीमराव अम्बेडकर के कड़े विरोध के बिना नहीं, जो किसी मसले को छोड़ते नहीं थे और उस पर अपने विचार सुस्पष्ट ढंग से प्रकट कर देते थे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय समस्त राजनैतिक स्वरूप कुछ समय के लिए पूर्णतया परिवर्तित हो गया था। अम्बेडकर पहले ही एक प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता के रूप में उभर चुके थे, और स्वतंत्रता के पश्चात नेहरू युग में उन्होंने स्वयं को राष्ट्रीय कर्तव्य में उच्च पदों पर आसीन पाया। कांग्रेस पार्टी ने उन्हें संविधान सभा में नामांकित किया, और संविधान सभा में उनको नये प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्र के लिए संविधान तैयार करने के हेतु प्रारूप समिति के सभापतित्व का दायित्वपूर्ण और ऐतिहासिक कार्य सौंप दिया। पंडित नेहरू ने अम्बेडकर को स्वतंत्र भारत के पहले विधि मंत्री के रूप में केबीनेट में लिया था। उस हैसियत से, अम्बेडकर ने महत्वपूर्ण हिन्दू कोड बिल का प्रारूप तैयार किया और उसे पारित करवाया। अनेक रुढ़िवाद और अन्य क्षेत्रों से इस विधेयक का कड़ा और काफी विरोध किया गया। परन्तु अम्बेडकर ने जिन्हें नेहरू जी का दृढ़ समर्थन प्राप्त था, विवादास्पद और रचनात्मक विधेयक को सफलतापूर्वक पारित करवा दिया। इस महत्वपूर्ण उपलब्धि के लिए डा० बाबा साहब अम्बेडकर ने "आधुनिक मनु" की योग्य और रुमानी पदवी अर्जित की।

मैंने कई बार लोक सभा अध्यक्ष की गैलरी से भारत के प्रबुद्ध विधि मंत्री के लोक सभा में दक्ष कार्य निष्पादन को देखा था। 1947 से सितम्बर 1951 तक का समय हमारे स्वतंत्र और नये प्रजातंत्र के प्रारम्भिक वर्ष थे जबकि अम्बेडकर ने अपने गिरते हुए स्वास्थ्य के कारण त्यागपत्र दे दिया था। मुझे अम्बेडकर का बम्बई विधान परिषद में 1937-39 की अवधि के दौरान अम्बेडकर का थोड़ा-थोड़ा देखना याद आता है। मैं उस समय उसकी संसदीय प्रतिभा और वाद-विवाद को समझने के लिए और उनका कुशाग्रता अधिक मूल्यांकन करने के लिए अत्यधिक अपरियक्व था। लेकिन दिल्ली में लोक सभा में अम्बेडकर की प्रधान और महत्वपूर्ण भूमिका मुझे स्पष्टतया याद है। डा० बी० आर० अम्बेडकर सदैव ही जागरूक रहते थे और अच्छी पोशाक पहने हुए होते थे और सदन में बोलते अथवा उत्तर देते समय सदैव विधिवत और पूर्ण जानकारी के साथ होते थे।

उनकी वाणी ओजस्वी एवं प्रभावशाली थी। उनका शब्दचयन स्पष्ट तथा सटीक हुआ करता था। वह जो कुछ भी करते थे बड़े आत्मविश्वास के साथ करते थे जो सदैव दूसरे के लिए प्रेरणादायक हुआ करता था। वह दृढ़ विचारों के धनी थे। वह विश्वासपूर्ण तथा आलोचनात्मक प्राधिकार और सर्वोत्तमता के साथ बोलते थे। वह अपने विरोधियों के तर्कों को काटने का कोई भी अवसर गंवाते नहीं थे ताकि अपनी बात लोगों से मनवा

सकें। अम्बेडकर की प्रतिभा संसद के प्रश्न काल के दौरान विशेष रूप से मुखरित होती थी। उनके उत्तर सदैव सुस्पष्ट तथा तर्कसंगत एवम् पैने हुआ करते थे। वे कभी बेकार की बात नहीं कहते थे, उनका उत्तर विषय से संबंधित और जीवंत होता था। उन्होंने ऐसी कोई सूचना नहीं दी जो मांगी न गई हो। उनके उत्तर इतने सही और प्रमाणिक होते थे कि अधिकांश मामलों में अनुपूरक प्रश्न पूछने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। जब कोई सदस्य अपने मूल प्रश्न की विषय-वस्तु से हटकर प्रश्न पूछने लगता था तब अपनी सीट पर आराम से शांतिपूर्वक बैठ जाते थे अथवा खड़े होकर इतना ही कहते अपनी "नोटिस अर्थात् उस विषय पर उत्तर के लिए विधिवत पृथक सूचना देनी चाहिए ताकि वह उचित उत्तर दे सकें। कभी-कभार यह महसूस किया जाने लगता कि विधि मंत्री नम्र रुख नहीं अपनाते और सभी पक्षों के सदस्यों के साथ दयाभाव नहीं दिखाते और सदस्यों के साथ रूखाई से पेश आते हैं, तथापि भीमराव अम्बेडकर का ओजस्वी एवं मोहक व्यक्तित्व के कारण उनके प्रति लोगों का क्षणिक गुस्सा काफूर हो जाता था।

नवोदित भारतीय गणतंत्र के लिए प्रजातांत्रिक संविधान का मसौदा तैयार करने का काम इतना चुनौतीपूर्ण और बड़ा था कि इसके लिए मेधा सम्पन्न अद्वितीय व्यक्तित्व के धनी व्यक्तियों की आवश्यकता थी। यह प्रसन्नता की बात थी कि उस समय सौभाग्यवश ऐसे प्रतिभासम्पन्न एवं प्रशिक्षित व्यक्ति प्रचुरता से उपलब्ध थे। नवीन भारत के लिए बेजोड़ संविधान बनाने का पूरा नहीं तो अधिकांश श्रेय भारतीय संविधान सभा की संविधान मसौदा समिति द्वारा प्रदत्त असाधारण तथा कल्पनाशील नेतृत्व को जाता है। संविधान मसौदा समिति के सदस्य बड़े अनुभवी तथा दूरदर्शी थे। काम के प्रति अपनी अटूट निष्ठा थी और इस काम में बिल्कुल निपुण थे। उनके विचार तथा दृष्टिकोण स्वार्थ से प्रेरित नहीं थे। समिति का प्रत्येक सदस्य एक रत्न के समान था और बी०आर० अम्बेडकर जो उस समिति के चेयरमैन थे, सबसे चमकीला रत्न थे। उन्हें इस बात का पहले रंचमात्र भी आभास नहीं था कि इस महान कार्य की जिम्मेदारी उन्हें सौंपी जाएगी। उन्हें तब बहुत हैरानी हुई जब संविधान सभा ने उन्हें प्रारूप समिति का सदस्य चुना तथा इससे भी अधिक आश्चर्य उन्हें तब हुआ जब उनका प्रारूप समिति के सभापति के लिए चुनाव किया गया। संविधान सभा इससे बेहतर बुद्धिमतापूर्ण तथा फलदायक निर्णय नहीं ले सकती थी। संविधान का मसौदा तैयार करने का जो जटिल कार्य अम्बेडकर को सौंपा गया, इसमें चार विशिष्ट नेताओं पं० जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, बाबू राजेन्द्र प्रसाद और मौलाना अबुल कलाम आजाद ने भी योगदान किया। संविधान सभा में कई और सब प्रकार के सदस्यों के होने के कारण किसी तरह की सहायता की कमी नहीं थी। 395 अनुच्छेदों वाले संविधान

जिसमें 9 अनुसूचियां थीं, मात्र तीन वर्ष की अल्पावधि के रिकार्ड समय में तैयार करना एक महान उपलब्धि थी (9 दिसम्बर, 1946 से 26 नवम्बर, 1949 की अवधि में)।

बाबा साहेब अम्बेडकर के उदात्त व्यक्तित्व में दिल और दिमाग के बहुविध गुणों का समावेश था जिसकी पहली झलक तब दिखाई दी जब उन्होंने बुद्धिमतापूर्वक संविधान का प्रारूप समिति के सदस्यों का नेतृत्व किया तथा प्रभुसत्ता सम्पन्न, लोकतांत्रिक गणतंत्र देश के निर्माण के लिए एक संविधान की रूपरेखा बनाई। उन्होंने "सभासद" के रूप में परमोत्कर्ष कार्य किया। इस कार्य में उन्होंने न केवल नेतृत्व प्रदान किया बल्कि नेतृत्व भी किया। उन्होंने अनेक प्रस्ताव रखे और अनेक प्रस्ताव स्वीकार किए। उन्होंने यथासम्भव आम राय बनाने का प्रयास किया परन्तु ऐसा न होने पर परस्पर विरोधी विचारधाराओं में बेहतर तालमेल तथा संतुलन बैठाते थे। उन प्रश्नों तथा प्राथमिकताओं के बारे में संविधान सभा की बैठक में स्वतंत्र तथा आलोचनात्मक चर्चा कराते थे और तत्पश्चात उनका समाधान करते थे। प्रसन्नता तथा उमंग के साथ कहाः "हम भारत के लोग, भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाजवादी धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं। इस महान योगदान के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र एवम् देशवासियों को आभार प्रकट करना चाहिए।"

17 नवम्बर, 1949 को डा० अम्बेडकर द्वारा पेश किए गए इस प्रस्ताव "कि संविधान सभा द्वारा यथानिर्धारित संविधान पारित किया जाए", पर संविधान सभा के सभी संवर्गों के सदस्यों ने सावधानीपूर्वक तथा व्यापक चर्चा की। चर्चोपरान्त 25 नवम्बर, 1949 को प्रारूप समिति के सभापति (अम्बेडकर) उत्तर देने के लिए खड़े हुए। उनका उत्तर स्वाभाविक रूप से विवरणात्मक और तथ्यपरक तथा विश्लेषणात्मक, भावनाओं से परिपूर्ण था। किन्तु अम्बेडकर ने इस अन्तिम अवसर को भी उपयोग अपने अमूल्य शब्दों से लोगों को सचेत करने तथा सामयिक एवं बुद्धिमतापूर्ण परामर्श देने के लिए किया। अपने इस भाषण में अम्बेडकर ने अन्य बातों के साथ यह भी कहा "तथापित कोई संविधान कितना भी अच्छा क्यों न हो, यह निश्चित रूप से खराब साबित हो सकता है यदि इसे कार्यान्वित करने वाले लोग खराब हों। कोई संविधान कितना भी बुरा क्यों न हो, यह बहुत अच्छा हो सकता है, यदि इसे क्रियान्वित करने वाले लोग अच्छे हों। संविधान कार्यक्रम संविधान की प्रकृति पर निर्भर नहीं करता।" उन्होंने आगे कहाः "क्या भारत के लोग देश को अपने पंथ से ऊपर मानेंगे, अथवा वे पंथ को देश से बड़ा मानेंगे? इसका मुझे पता नहीं है। अम्बेडकर ने पैगम्बरी की भांति यह कहाः "भारत ने (बौद्ध भिक्षु संघ की) लोकतांत्रिक प्रणाली खो दी थी । क्या भारत इसे दोबारा खोएगा? मुझे नहीं मालूम।" तत्पश्चात उन्होंने शीघ्रता से कहाः "भारतीय नवजात लोकतंत्र में इसकी पूरी सम्भावना है कि लोकतंत्र को बाह्य स्वरूप तो बना रहेगा परन्तु वास्तव में तानाशाही की

स्थापना हो सकती है। "यदि एक बार भूस्खलन होता है तो दोबारा होने की इसकी प्रबल संभावना होती है।" उनका यह स्पष्ट विश्वास था कि "हमें अपने राजनैतिक लोकतंत्र को सामाजिक लोकतंत्र बनाना चाहिए। राजनैतिक लोकतंत्र ज्यादा दिनों तक नहीं चल सकता जब तक इसका आधार सामाजिक लोकतंत्र न हो। सामाजिक लोकतंत्र का क्या अभिप्राय है? इसका अभिप्राय एक ऐसी जीवन-पद्धति से है जो जीवन सिद्धान्तों के रूप में स्वतंत्रता समानता और भाईचारे के सिद्धांन्तों को मान्यता प्रदान करे। 26 जनवरी, 1950 को हम विरोधाभासों के जीवन में प्रवेश कर रहे हैं। राजनीति में हमें समानता मिलेगी और सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में असमानता होगी। राजनीति में हम एक व्यक्ति एक वोट के सिद्धान्त को मान रहे हैं तथा प्रत्येक वोट की कीमत बराबर होगी। परन्तु दूसरे सामाजिक और आर्थिक जीवन में, हम सामाजिक और आर्थिक ढांचे की संरचना के कारण व्यक्ति के बराबरी के सिद्धांत को नहीं मान रहे हैं। इस प्रकार के विरोधाभासों का जीवन हम कितने दिनों तक जीएंगे? यदि इसे हम लम्बे समय तक अस्वीकार करते रहेंगे तो ऐसा करके हम अपने राजनैतिक प्रजातंत्र को खतरे में डाल देंगे। हमें इस विरोधाभास को यथाशीघ्र दूर करना चाहिए अन्यथा असमानता के शिकार लोग इस सभा द्वारा अथक परिश्रम से तैयार की गई राजनैतिक प्रजातंत्र की संरचना पर प्रहार करेंगे।" डा० अम्बेडकर ने स्पष्ट चेतावनी देते हुए कहा कि: "लोग जनता द्वारा सरकार के सिद्धांत से उकता रहे हैं। वे जनता की सरकार चाहते हैं और इस सिद्धांत के प्रति उनकी कोई रूचि नहीं है कि क्या यह सरकार जनता के लिए तथा जनता द्वारा बनाई गई है। यदि हम इस संविधान को सुरक्षित रखना चाहते हैं जिसमें हमने जनता की जनता के लिए तथा जनता द्वारा सरकार के सिद्धांत को प्रतिपादित किया है तो आओ हम इस बात का संकल्प लें कि हमारे रास्ते में जो बुराइयां हैं, जिसके कारण लोग जनता द्वारा सरकार के सिद्धांत की तुलना में जनता के लिए सरकार के सिद्धांत अपनाने के लिए प्रेरित होते हैं उन्हें पहचानने में टालमटोल न करें। इन्हें दूर करने के लिए हमें तत्काल पहल करनी चाहिए। देश की सेवा करने का केवल यही एक रास्ता है। मैं जानता हूं कि इससे अच्छा रास्ता और नहीं हो सकता।"

क्या स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी के लोग उनकी नेक तथा विश्वासपूर्ण सलाह पर गौर करेंगे तथा उनकी धड़कन और आशाओं को पूर्ण कर पाएंगे?

क्या हम ऐसा बहुमूल्य समय नष्ट होने के बाद करेंगे जब स्वतंत्रता की ज्योति और लोकतंत्र की लौ धीमी पड़कर समाप्त हो जाएगी?

भगवान हमारी सहायता करे, और हमारे प्रिय तथा लोकतांत्रिक गणतंत्र की रक्षा करे।

6

सामाजिक न्याय की खोज में

—प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद*

बर्मा के प्रधानमंत्री श्री ऊनू ने डा० भीमराव अम्बेडकर का स्मरण करते हुए कहा था कि वह उन लोगों में अग्रणी थे, जिन्होंने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को तेज करने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। यह टिप्पणी डा० अम्बेडकर के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि ही नहीं, बल्कि उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का सही मूल्यांकन भी है। उनका सम्पूर्ण जीवन (1891—1956) संघर्ष तथा सामाजिक अन्याय के विरुद्ध सामाजिक न्याय की खोज की एक जीवन्त गाथा है और अपने इस संघर्ष में उन्हें जैसी सफलता मिली, वैसी विरलों को ही मिलती है। वह संविधान सभा की प्रारुप समिति के अध्यक्ष और भारत के विधि मंत्री थे। संसार के इतिहास में ऐसे भाग्यशाली व्यक्ति बहुत कम हुए हैं, जिन्हें अपने सपने को मूर्त रूप देने का अवसर प्राप्त हुआ हो। डा० अम्बेडकर की मान्यता थी कि सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र के बिना राजनैतिक लोकतंत्र अधूरा है। संविधान सभा में 29 अप्रैल, 1947 को सरदार वल्लभ भाई पटेल के प्रस्ताव को स्वीकार कर, संविधान सभा ने न केवल अस्पृश्यता को समाप्त ही किया बल्कि इसको दंडनीय अपराध भी करार दिया। यह एक ऐसा मुद्दा था, जिस पर महात्मा गांधी और डा० अम्बेडकर ही नहीं, बल्कि समूचा देश एकमत था। इस निर्णय को भारतीय इतिहास का गौरवशाली अध्याय बताते हुए सारे संसार में इसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की गई। न्यूयार्क टाइम्स ने अस्पृश्यता की समाप्ति की तुलना अमेरिका में की गई दासता की समाप्ति से की थी।

25 नवम्बर, 1949 को संविधान सभा में दिये गये उनके भाषण की प्रासंगिकता और सार्थकता आज तब से और अधिक है, क्योंकि चार दशकों के इस अंतराल ने, उस भाषण में व्यक्त की गई उनकी सभी आशंकाओं को, दुर्भाग्यवश, सही सिद्ध कर दिया। बाद के घटनाक्रम में, न केवल उन्हें दो वर्षों के भीतर ही मंत्रिपरिषद् से त्यागपत्र देना

*प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद भूतपूर्व केन्द्रीय मंत्री हैं।

पड़ा, बल्कि उनका राजनीतिक प्रभाव भी क्षीण हो गया। पर इससे सामाजिक न्याय की खोज के उनके काम में कोई बाधा नहीं पड़ी। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो व्यक्ति न्याय की खोज करता है, अन्याय करने वाले उससे बदला लिए बिना नहीं रहते। अब्राहम लिंकन और महात्मा गांधी की तो इस कारण हत्या तक करवा दी गयी।

डा० अम्बेडकर ने अपने इस ऐतिहासिक भाषण में कहा था:

"केवल राजनैतिक लोकतन्त्र से ही हमें सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। अपने राजनैतिक लोकतन्त्र को हमें सामाजिक लोकतंत्र का रूप भी देना चाहिये। सामाजिक लोकतंत्र का क्या अर्थ है? इसका अर्थ जीवन के उस मार्ग से है जो स्वातन्त्र्य समता और बन्धुत्व को जीवन के सिद्धान्तों के रूप में अभिज्ञात करता है। स्वातन्त्र्य, समता और बन्धुत्व के इन सिद्धान्तों को इन तीनों के एक संयुक्त रूप से पृथक पृथक मदों के रूप में नहीं समझना चाहिये। इन तीनों का मिलकर एक इस प्रकार का संयुक्त रूप बनता है कि एक का दूसरे से विच्छेद करना लोकतंत्र के मूल प्रयोजन को ही विफल करना है। स्वातन्त्र्य को समता से पृथक नहीं किया जा सकता, समता को स्वातन्त्र्य से पृथक नहीं किया जा सकता और न स्वातन्त्र्य या समता को ही बन्धुत्व से पृथक किया जा सकता है। समताविहीन स्वातन्त्र्य से कुछ व्यक्तियों की अनेक व्यक्तियों पर प्रभुत्व का प्रादुर्भाव होगा। स्वातन्त्र्य विहीन समता व्यक्तिगत उपक्रम का ह्रास करेगा। बन्धुत्व के बिना स्वातन्त्र्य और समता अपना स्वाभाविक मार्ग ग्रहण नहीं कर सकता। उनको प्रदत्त करने के लिये सिपाही की आवश्यकता है। यह तथ्य स्वीकार करते हुये हमें कार्यारम्भ करना चाहिये कि भारतीय समाज में दो बातों का पूर्णतया अभाव है। इनमें से एक समता है। सामाजिक स्तर पर हमारे भारत में हमारा एक ऐसा समाज है, जो क्रमानुसार निश्चित असमता के सिद्धान्त पर आश्रित है जिसका अर्थ कुछ व्यक्तियों की उन्नति और कुछ का पतन है। आर्थिक स्तर पर हमारा एक ऐसा समाज है जिसमें कुछ लोग ऐसे हैं जिनके पास अतुल सम्पत्ति है और कुछ ऐसे हैं जो निरी निर्धनता में जीवन बिता रहे हैं। 26 जनवरी, 1950 को हम विरोधी भावनाओं से परिपूर्ण जीवन में प्रवेश कर रहे हैं। राजनैतिक जीवन में हम समता का व्यवहार करेंगे और सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में असमता का। राजनीति में हम एक व्यक्ति के लिए एक मत और एक मत का एक ही मूल्य के सिद्धान्त को मानेगें। अपने सामाजिक और आर्थिक जीवन में अपनी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के

कारण एक व्यक्ति का एक ही मूल्य के सिद्धान्त का हम खंडन करते रहेंगे। इन विरोधी भावनाओं के परिपूर्ण जीवन को हम कब तक बिताते चले जायेंगे? यदि हम इसका बहुत काल तक खंडन करते रहेंगे तो हम अपनी राजनैतिक लोकतन्त्र्य को संकट में डाल देंगे। हमें इस विरोध को यथासंभव शीघ्र ही मिटा देना चाहिये, अन्यथा जो असमता से पीड़ित हैं वे लोग इस राजनैतिक लोकतन्त्र की उस रचना का विध्वंस कर देंगे जिसका निर्माण इस सभा ने इतने परिश्रम के साथ किया है।"

यह उद्धरण डा० अम्बेडकर के जीवन-दर्शन और विचारधारा का सारांश है। उनका जीवन-दर्शन समता, स्वातन्त्र्य और बन्धुत्व की मान्यता पर आधारित था, परन्तु एक के मूल्य पर दूसरे की उपेक्षा उन्हें असह्य थी। इन तीनों के लिए उन्होंने जिस "त्रिमूर्ति" शब्द का प्रयोग किया था, वह इन तीनों अंगों की अन्योन्याश्रयता और परस्परपूरकता का द्योतक है, एक की उपेक्षा कर अन्य पर बल देने से अन्ततः सभी दुर्बल पड़ने लगते हैं और लोकतंत्र रूपी शरीर अस्वस्थ होने लगता है।

:2:

शरीर के विभिन्न अंगों में अन्योन्याश्रयता और परस्परपूरकता का जो मूल तत्व निहित है उसका विस्मरण कर देने से अर्थ का अनर्थ ही नहीं होता, बल्कि पूरी परंपरा विकृत हो जाती है। स्वतंत्र भारत का वर्तमान इतिहास ही नहीं, बल्कि आधुनिक पाश्चात्य देशों का इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि स्वातन्त्र्य, समता और बन्धुत्व में से केवल किसी एक पर बल देने के कारण किस प्रकार से सम्पूर्ण व्यवस्था में असंतुलन आ जाता है और व्यवस्था से असंतुष्ट पक्ष व्यवस्था को ही नष्ट करने पर तुल जाता है। स्थिति तो तब और भी दयनीय हो जाती है जब राजनैतिक लोकतंत्र को ही सब कुछ मानकर व्यवस्था पर वर्चस्व रखने वाला वर्ग सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र के स्वाभाविक विकास और प्रगति के मार्ग को विभिन्न उपायों का सहारा लेकर अवरुद्ध करने लगता है। इतिहास काल-पुरुष का चरण है और काल-पुरुष की गति को अवरुद्ध करने के प्रयास का परिणाम होता है विकृति और मृत्यु। व्यक्ति ही नहीं समाज के उत्थान-पतन का भी यह दर्शन है। काव्य-रूप के अभिप्राय को खंडित कर देने से पूरी परम्परा किस प्रकार विकृत और मृतप्राय हो जाती है, इसका ज्वलंत प्रमाण है वेद की वह ऋचा, जिसे वर्ण-व्यवस्था का मूलाधार माना जाता है।

ऋचा इस प्रकार है—

"ब्राह्मणो अस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।"

अर्थात् "ब्राह्मण इस विराट् (समाज) का मुख है, क्षत्रिय बाहु है, वैश्य ऊरु (जंघा)

और शूद्र पैर के रूप में प्रसिद्ध है।" सातवलेकर जी ने कहा कि "इस श्लोक में आलंकारिक रीति से वर्णों के कर्मों का निरुपण है। शूद्र को इस मंत्र में बहुत ऊंची पदवी दी गई है। जिस प्रकार सारा शरीर पैरों के आश्रित रहता है, उसी प्रकार यह सारा समाज शूद्र के आश्रित रहता है।" शूद्र रूपी पैरों की उपेक्षा करने के कारण ही भारतीय समाज पंगु हो गया।

उद्धृत ऋचा में वर्ण की उत्पत्ति को मानव शरीर के विभिन्न अंगों के संबंधों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें शरीर के अवयवों की पारस्परिक श्रेष्ठता का निरूपण नहीं, बल्कि शरीर के विभिन्न अंगों की अन्योन्याश्रयता और परस्परपूरकता को दर्शाया गया है। लेकिन यह भी सत्य है कि इसी ऋचा को एक वर्ण की दूसरे पर श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए बार-बार उद्धृत किया जाता रहा है।

वर्ण-व्यवस्था चार वर्णों तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि शूद्र के बाद अतिशूद्र या अस्पृश्य के रूप में पंचम वर्ण की भी समावेश हो गया और फिर इन पांच वर्णों की हजारों जातियाँ-उपजातियाँ विकसित हो गयीं। डा० अम्बेडकर ने "शूद्र कौन" नामक अपनी पुस्तक में सामाजिक न्याय की दृष्टि से गंभीर समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत कर अपनी यह मान्यता प्रस्तुत की है कि शूद्र वस्तुतः सूर्यवंशी क्षत्रिय थे, जिन्हें विवाद और विद्वेष के कारण ब्राह्मणों ने उपनयन संस्कार से वंचित कर, शूद्र होने को विवश कर दिया। डा० अम्बेडकर का मानना था कि भारत की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वालों को पहले इस अमानवीय वर्ण-व्यवस्था को समाप्त करने के लिए आंदोलन करना चाहिए, तभी भारत में स्वतंत्रता का कोई अर्थ होगा और लोकतंत्र स्वस्थ रूप में विकसित होगा।

वर्ण-व्यवस्था का संभवतः सबसे प्राचीन और प्रामाणिक दार्शनिक-समाजशास्त्रीय आधार गीता के इस श्लोक में प्राप्त होता है—

"चातुर्वण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तार मपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।"

इसका अर्थ है—

"चार वर्णों का समूह, गुण और कर्मों के विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्म का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी परमेश्वर को तू वास्तव में अकर्ता ही जान।"

इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि समाज को चार वर्णों में विभाजित करने का आधार गुण और कर्म है, जन्म नहीं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जन्म को ही वर्ण और जाति की व्यवस्था का आधार मानने की बात परम्परा से चली आ रही है। आज यह

बात सभी स्वीकार करते हैं कि जन्म को आधार मान लेने के कारण भारतीय समाज की गतिशीलता समाप्त हो गई है। डा० अम्बेडकर का यह दृढ़ विश्वास था कि लोकतंत्र के सर्वांगीण और स्वस्थ विकास के लिए जन्म पर आधारित ऊंच-नीच को इस समाज-व्यवस्था को समाप्त करना होगा तभी व्यक्ति को अपनी क्षमता विकसित करने की प्रेरणा मिल सकेगी। भारतीय संविधान में अस्पृश्यता तो समाप्त कर दी गई, लेकिन वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था अभी भी न केवल बनी हुई है, बल्कि इसका जोरदार समर्थन भी किया जाता है।

महात्मा गांधी यद्यपि अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म का कलंक मानते थे और जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था के विरोधी थे, परन्तु वह वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक थे। वर्ण को वे गुण और कर्म पर आधारित मानते थे, जिसका संबंध मनुष्य के स्वधर्म से है। गांधी जी यह मानते थे कि "शास्त्रों में वर्णित वर्णाक्षम व्यवस्था आज कहीं व्यवहार में नहीं है और वर्तमान जाति-व्यवस्था वर्णाश्रम व्यवस्था के सर्वथा विपरीत है और जनमत को इसे शीघ्र से शीघ्र समाप्त कर देना चाहिए।" फिर वह "चार वर्णों को बुनियादी, स्वाभाविक और अनिवार्य" मानते थे। पंडित गोपीनाथ कविराज के अनुसार "वर्ण और आश्रम दोनों ही मोक्ष-प्रापक सामाजिक संस्थान हैं। यद्यपि वर्तमान युग में इसका उपयोग बहुत लोग समझते नहीं हैं, तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से तथा तात्विक विचार से देखने पर, वर्ण-व्यवस्था तथा आश्रम-व्यवस्था तर्कसंगत ही प्रतीत होती है।" इस विषय पर डा० भगवान दास ने विस्तार से विचार किया और उन्होंने वर्तमान सन्दर्भ में "मनुस्मृति" की व्याख्या की है।

तो क्या डा० अम्बेडकर की सामाजिक न्याय की खोज, वर्ण और जाति-व्यवस्था की उनकी आलोचना अनावश्यक है? गांधी जी ने ठीक ही कहा है कि शास्त्रों में वर्णित वर्णाश्रम व्यवस्था आज समाज में कहीं प्रचलित नहीं है और प्रचलित जाति-व्यवस्था वर्णाश्रम व्यवस्था के सर्वथा विपरीत है, अतः इसे समाप्त कर देना चाहिए। गांधी जी ने केवल अस्पृश्यता की समाप्ति के लिए आंदोलन चलाया, जाति-व्यवस्था की समाप्ति के लिए नहीं। ज्योतिबा फुले की तरह डा० अम्बेडकर ने वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था दोनों को अमानवीय और अन्यायमूलक मानकर, दोनों की समाप्ति कर समता, स्वातन्त्र्य और बंधुत्व पर आधारित नयी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिए जीवन-भर संघर्ष किया।

जब धर्म-पंडितों ने वर्ण-व्यवस्था की आधार ऋग्वेद की उक्त ऋचा और गीता के गुण-कर्म सिद्धान्त को परिभाषित किया तथा इन्हें स्वधर्म और पुनर्जन्म से जोड़कर, सामाजिक व्यवस्था को धार्मिक व्यवस्था का रूप दे दिया, तब इस धर्मप्राण देश में इसका

विरोध करना असंभव सा हो गया। वैदिक और पौराणिक परम्पराओं के सनातनियों ने धर्म का अंग मानकर इसका समर्थन किया। यद्यपि महावीर और गौतम बुद्ध ने इस व्यवस्था का विरोध किया, तथापि वे भी इस व्यवस्था के स्थान पर किसी अधिक न्यायसंगत और स्थायी व्यवस्था का निर्माण नहीं कर पाये। अतः जैन और बौद्ध धर्म भी सनातन धर्म पर अपना प्रभुत्व नहीं जमा पाए। बाद में आपस्तम्ब और बौधायन तथा मनु और याज्ञवल्क्य जैसे सूत्रकारों एवं चाणक्य जैसे अर्थशास्त्रकारों ने ऐसी वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन किया, जिसमें शूद्रों को उनके अधिकारों से वंचित कर दिया गया। मनु की दृष्टि में शूद्र और पशु समान थे। ब्राह्मण को शूद्र की हत्या करने पर मात्र उतना ही प्रायश्चित करना पड़ता था, जितना कुत्ते या बिल्ली को मारने पर।

यह आश्चर्य की बात है कि इस भेदभावमूलक व्यवस्था के विरुद्ध न तो कोई आंदोलन हुआ, न किसी ने इसका विरोध किया। गौतम बुद्ध की धर्मपरिवर्तन व्यवस्था भी वर्ण और जाति-व्यवस्था को समाप्त नहीं कर पाई। भक्ति आंदोलन ने भी जाति-व्यवस्था को कुछ शिथिल तो अवश्य किया, परन्तु यह उसे समाप्त नहीं कर पाया।

इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि वर्ण-व्यवस्था के दार्शनिक-समाज-शास्त्रीय मूलाधार को अछूता रहने दिया गया। इस ओर गंभीरतापूर्वक ध्यान ही नहीं दिया गया कि गीता का स्वधर्म और गुण-कर्म वर्ण या जाति-व्यवस्था के पोषक स्वधर्म और गुण-कर्म नहीं हो सकते, क्योंकि गीता का दर्शन अभेद और अद्वैत (वासुदेवः सर्वमिति-7-19) का प्रतिपादक है, जबकि वर्ण-व्यवस्था भेदमूलक है, अद्वैतविरोधी है। ऋग्वेद की जिस ऋचा (10-19-12) से वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया जाता रहा है, उसमें संसार में सबसे पहले सत्य एक है, जिसे विद्वान बहुत नामों से पुकारते हैं (ऋग्वेद 1-164-46) की घोषणा की गई। मोक्ष के लिए अद्वैत के दर्शन को स्वीकार कर विकसित होने वाली परम्परा में वर्ण-व्यवस्था क्यों और कैसे उत्पन्न हुई, इस विषय पर अभी तक शीघ्र और अनुसंधान हुआ ही नहीं है। यह आश्चर्य की ही बात है कि अद्वैत-दर्शन पर विश्वास करने वाले आदि शंकराचार्य ने इस वर्ण-व्यवस्था का समर्थन कैसे किया।

तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी ने लिखा है—"ऐसा एक भी प्रमाण मानव जाति के इतिहास में ढूंढ़ने से नहीं मिलता है, जिससे यह कहा जा सके कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की उत्पत्ति जन्म के आधार पर होती है। इतिहास तो यही कहता है कि एक ही मानव वंश में भी नई सांस्कृतिक परम्परा उत्पन्न होती है और पुरानी बदल जाती है। गुण और कर्म परस्पर विरोधी नहीं है। ऐसे हजारों मनुष्य हैं जिनमें ज्ञान,

संयम, शौर्य, व्यवसाय कौशल और शारीरिक श्रम का संगम हुआ है। ये गुण ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के स्वाभाविक गुण बताए जाते हैं।"

भक्ति आन्दोलन जाति प्रथा को शिथिल करने में तो कुछ हद तक सफल रहा, लेकिन इसका पूर्णतः उन्मूलन करने में यह कामयाब नहीं हुआ। इसी सन्दर्भ में हमें डा० अम्बेडकर की उस पीड़ा को समझना होगा जो उन्हें सामाजिक न्याय की खोज के लिए झेलनी पड़ी। अस्पृश्य जाति में जन्म लेने के कारण उन्हें आत्म-वेदना की आग में तपना पड़ा, जिसने उनके मन-मस्तिष्क को झकझोर दिया। इसके परिणामस्वरूप उन्होंने सामाजिक न्याय के लिए कठोर प्रयास किया और इस निमित्त अपना भरपूर योगदान किया। डा० अम्बेडकर के लिए यह एक बड़े सम्मान की बात है कि उनका स्मरण द्वितीय मनु के रूप में किया जाता है।

संविधान की उद्देशिका में, डा० अम्बेडकर ने स्वातन्त्र्य, समता और बंधुत्व से पहले न्याय को स्थान दिया है। हालांकि स्वातन्त्र्य, समता और बन्धुत्व के आदर्शों को समूचे यूरोप में फ्रांस की क्रान्ति के बाद मान्यता प्राप्त हुई, लेकिन न्याय की भावना भारतीय परम्परा का सर्वथा निजी उपहार है। तथापि बाद में, न्याय की यह भावना धर्म की उस भावना से जुड़कर विकृत हो गई, जो वर्ण भावना से प्रभावित हो गई थी।

न्याय की भारतीय परम्परा असन्तुलित और पक्षपातपूर्ण हो गई और इससे इसकी प्रतिष्ठा को भी धक्का पहुंचा। वेद, उपनिषद, गीता, रामायण, महाभारत, पुराण आदि में यही दर्शन बार-बार सामने आया है कि जन्म पर आधारित भेदभावमूलक वर्ण-व्यवस्था या जाति-व्यवस्था का कोई आधार नहीं है।

कुछ लोगों के मन में इस बात की आशंका हो सकती है कि क्या अद्वैत दर्शन के आधार पर सामाजिक-आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक व्यवस्था का निर्माण सम्भव है? मेरा मानना है कि यह संभव ही नहीं, बल्कि अनिवार्य और अपरिहार्य है। यदि अद्वैत दर्शन को उचित मान्यता प्रदान नहीं की जाती है, तो विश्व में कोई भी धर्म, समाज, व्यवस्था अथवा मर्यादा नहीं टिक पाएगी।

वर्तमान परिस्थितियों में, भारत के लिए संभावनाओं का एकदम एक नया संसार प्रतीक्षा कर रहा है, क्योंकि अद्वैतवाद की परम्परा यहां वैदिक काल से चली आ रही है। वैदिक काल से ही यहां इस बात का बोध रहा है कि विद्या (आध्यात्मिक ज्ञान) और अविद्या (भौतिक ज्ञान), दोनों के सह-अस्तित्व से ही मानव-जीवन की पूर्णता, अतः सर्वांगीण सामाजिक विकास सम्भव है। लेकिन प्राचीन भारत में आधुनिक युग की तरह विज्ञान का विकास नहीं होने के कारण आज की तरह प्रत्येक व्यक्ति के लिए विकास के समान अवसर और साधन उपलब्ध कराना संभव नहीं था। अब चूंकि विज्ञान की सहायता से

यह संभव है, अतः वर्ण और जाति-व्यवस्था के स्थान पर भारतीय संविधान की उद्देशिका के अनुरूप न्याय, स्वातन्त्र्य, समता और बन्धुत्व पर ऐसी व्यवस्था का निर्माण संभव है, जिसमें गणराज्य के समस्त नागरिकों को अवसर की समता प्राप्त हो सके।

भारत ने प्रथम मनु के उद्देश्यों पर ध्यान नहीं दिया और न ही उसने द्वितीय मनु अर्थात् डा० अम्बेडकर की इस सलाह को ही माना कि चौदह वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों को अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा दिए जाने की व्यवस्था करना आवश्यक है। इसके दुष्परिणाम हमारे समाने हैं।

अद्वैत दर्शन पर आधारित संपूर्ण जीवन-व्यवस्था के निर्माण के लिए क्या मानव समाज को तृतीय मनु की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी? द्वितीय मनु (डा० अम्बेडकर) का कृतित्व इस दिशा में प्रकाश-स्तंभ का कार्य करेगा।

7

डा० अम्बेडकर—एक सामाजिक क्रान्तिकारी

श्रीमती रेणुका राय*

जब भारत के विभाजन की कीमत पर आजादी आई, तो गांधी जी, पंडित नेहरू और अन्य नेताओं के अनुरोध पर संविधान सभा का गठन किया गया और इसके अधिकांश सदस्यों का चुनाव विधान सभाओं द्वारा किया गया। गांधी जी, पंडित नेहरू और अन्य नेताओं ने महसूस किया कि न केवल उन व्यक्तियों को जो विधान सभाओं में थे, बल्कि जीवन में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में प्रतिष्ठित विभिन्न पुरुषों और महिलाओं को भी संविधान सभा में उचित स्थान दिया जाना चाहिये, ताकि यह वास्तव में समूचे देश का न केवल उन व्यक्तियों का जो स्वतंत्रता आंदोलन में आगे थे प्रतिनिधित्व कर सके। परिणामस्वरूप, काफी संख्या में उन व्यक्तियों को संविधान सभा में सम्मिलित किया गया, जो राजनैतिक क्षेत्र की बजाय, जीवन के अन्य विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिष्ठित थे। उनमें से सबसे उल्लेखनीय नाम संभवतः डा० अम्बेडकर का था, जो एक महान व्यक्तित्व के धनी थे और संविधान का प्रारूप तैयार करने वाली समिति के सभापति के रूप में जिनका योगदान अनूठा था।

डा० अम्बेडकर दृढ़ इच्छा शक्ति वाले व्यक्ति थे और जो कुछ भी उन्होंने ठीक समझा, उससे उन्हें आसानी से विचलित नहीं किया जा सका। अनुसूचित जाति से संबद्ध डा० अम्बेडकर अपने पद और स्थिति के बावजूद जाति-प्रथा के कारण अनुचित व्यवहार की कटुता से प्रभावित हुए। हालांकि वह गांधी जी की इस बात से पूर्णतः सहमत थे कि जाति के आधार पर कोई 'भेदभाव' नहीं होना चाहिये और सभी नागरिकों के साथ एक समान व्यवहार किया जाना चाहिये, तथापि उन्होंने महसूस किया कि इसके लिए गांधी जी का मार्ग सफल नहीं होगा, क्योंकि शताब्दियों से भारत में व्याप्त जाति-प्रथा ने लोगों को रूढ़ और संकुचित बना दिया है। उनका विश्वास था कि कथित निम्न जातियों के लिये समानता लाने का एकमात्र उपाय रूढ़िवादी हिन्दू धर्म का त्यागना और वापिस उस बौद्ध धर्म में लौटना है, जो तर्कसंगत है और सभी मनुष्यों से समान व्यवहार किए जाने का

*श्रीमति रेणुका राय संविधान सभा की सदस्या थीं।

पक्षधर है। मैं व्यक्तिगत रूप से सोचता हूं कि यह अवधारणा पूर्ण रूप से उचित थी चूंकि इसमें गौतम बुद्ध के तर्कसंगत विचार समाहित थे और इसे भारत में, इसके प्राचीन स्वरूप में स्वीकार किया गया है। हमारा अनुवर्ती इतिहास भिन्न हो सकता है, लेकिन यह देश का ही दुर्भाग्य है कि उनके तर्कशील दृष्टिकोण को उनकी अपनी भूमि, उनकी जन्मभूमि पर उचित सम्मान नहीं दिया गया। बौद्धधर्म का प्रसार कई पड़ोसी देशों में हुआ, वहां इसे सम्मान भी प्राप्त हुआ, परंतु स्थानीय प्रथाओं के अनुसार इसके मूल्यों में अपेक्षित संशोधन कर लिया गया। यहां तक कि इतने विलम्ब के बावजूद यदि डा० अम्बेडकर के ओजस्वी विचारों को न केवल दलितों द्वारा जिन्हें जाति-बाहर समझा जाता था, अपितु समूचे देश द्वारा स्वीकार कर लिया जाता तो विशेष रूप से स्त्रियों के साथ व्यवहार के संबंधों में बढ़ती हुई अवांछनीय घटनाओं, सामान्य असंतोष और जीवन के गिरते हुए मूल्यों की स्थिति से बचा जा सकता था।

प्रारंभ में ही इसका उल्लेख कर दिया है, क्योंकि मेरे विचार से डा० अम्बेडकर ने केवल अनुसूचित जातियों के नेता थे, अथवा उन्हें केवल इसलिए आदर दिया जाता है कि उन्होंने संविधान का प्रारूप तैयार करने वाली समिति के सभापति के रूप में काम किया था, बल्कि वह उन नेताओं में से थे, जिनका राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण आज की विकट स्थिति में और भी सहायक सिद्ध हो रहा है।

मैं जब उनसे पहली बार मिला तब तक वह उन लोगों के लिये बौद्ध धर्म पर अपने सिद्धान्त की व्याख्या कर चुके थे, जो जातिवाद के कारण सताये हुये थे। इसके काफी बाद संविधान सभा का गठन किया गया और तब मैंने उन्हें निकटता से जाना तथा उनकी बहुमुखी प्रतिभा और संविधान का प्रारूप तैयार करने संबंधी उनके दृष्टिकोण और समझ-बूझ की कायल हुई। यद्यपि वह दृढ़ निश्चय वाले व्यक्ति थे, तथापि उन्होंने सभी विभिन्न मतों में समझौता कराने के मामले में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। और इस रूप में वह पण्डित जवाहरलाल नेहरू के सहायक बने जो कुछ विकट परिस्थितियों में भी समझौता करवाने में सूत्रधार सिद्ध हुए। आखिरकार हमें याद रखना चाहिये कि जिन व्यक्तियों ने संविधान सभा का गठन किया था, वे भिन्न-भिन्न विचारधारा रखने वाले व्यक्ति थे।

भारतीय संविधान की उद्देशिका में उन उद्देश्यों का उल्लेख किया गया है, जिनके अनुसार संविधान में विभिन्न अध्यायों को तैयार किया गया है। विभिन्न तत्वों के बीच

मतभेद होने के कारण कुछ अत्यन्त आवश्यक मदों को राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों में शामिल किया गया और उनमें से अनेक अत्यावश्यक मदों पर 40 वर्षों के बाद भी अभी तक कानून नहीं बनाया गया है। डा० अम्बेडकर और बहुत से अन्य वकीलों का विचार था कि दंड संहिता तो पहले से ही स्थापित थी, लेकिन सिविल संहिता को लागू करने से पहले इसे तैयार करने में समय लगेगा। इसका अर्थ था कि संविधान को कानूनी रूप देने में कुछ सीमा तक विलम्ब होगा। लेकिन बहुत से सदस्य संविधान के शीघ्रातिशीघ्र तैयार करने के लिये बैचेन थे, वे अधिक समय नहीं गंवाना चाहते थे। यहां मैं यह वर्णन करना चाहती हूं कि संविधान तो वास्तव में अक्तूबर, 1949 में ही तैयार हो गया, परंतु क्योंकि हिन्दी विशेषज्ञों के दो वर्गों के बीच हुए वाद-विवाद के कारण हिन्दी अनुवाद भली भांति तैयार नहीं था, इसलिये इसे अन्ततः 26 नवम्बर, 1949 को स्वीकार किया गया।

डा० अम्बेडकर द्वारा दिये गये अपने उत्कृष्ट भाषण में, उन्होंने बताया कि ग्राम पंचायतों की जैसाकि गांधीजी और अन्य नेताओं ने व्यक्त किया है, इन वर्षों के दौरान स्थिति इतनी अधिक बिगड़ गई है कि आज ये कुछ विशेष वर्गों की भद्दी तस्वीर बन गई है, जहां कतिपय व्यक्ति, अधिकांशतः ब्राह्मण और ऊपरी जाति के व्यक्तियों ने अपना प्रभुत्व जमा रखा है। उन्होंने बताया कि पंचायतों द्वारा लिये गये कुछ निर्णय न केवल विशेषाधिकार प्राप्त जातियों के नीचे के वर्गों के प्रति ही अन्यायपूर्ण थे, बल्कि (विशेष रूप से) महिलाओं के प्रति भी अन्यायपूर्ण थे। हमने इस विषय का विस्तार से अध्ययन किया और संविधान सभा की सभी महिला-सदस्यों और यहां तक कि जवाहरलाल नेहरू और अन्य प्रगतिशील व्यक्तियों ने यह महसूस किया कि डा० अम्बेडकर ने बहुत ही उचित प्रश्न उठाया था। ग्राम पंचायत संबंधी प्रश्न कुछ समय के लिए छोड़ दिया गया। मुझे गांधी जी के साथ इस विषय पर हुई एक चर्चा याद है, जिसमें उनका सुझाव था कि हमें पंचायत-राज को सभी व्यक्तियों के उचित प्रतिनिधित्व का द्योतक बनाना चाहिये तथा इसे समूचे समाज के हित के लिये गंभीर निर्णय लेने में सक्षम होना चहिये, न कि अनुसूचित जातियों अथवा महिलाओं की उन्नति रोकने के लिये मनमानी थोपनी चाहिए। लेकिन चूंकि यह एकदम नहीं किया जा सकता था, संविधान सभा ने शीघ्र कार्यवाही न करने का निर्णय लिया। काफी लम्बी चर्चा के पश्चात् इसे राज्य के नीति निदेशक तत्वों में धारा 40 के रूप में निम्नलिखित रूप में रखा गया। "राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिये कदम उठाएगा और उनको ऐसी शक्तियां और प्राधिकार प्रदान करेगा, जो उन्हें स्वशासन की इकाईयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिये आवश्यक हों"। निःसंदेह उस समय संविधान सभा के सदस्यों ने यह कभी नहीं महसूस किया था कि मुख्य मुद्दों के मामलों में भी राज्य के नीति निदेशक तत्वों पर विचार किया जायेगा। तथापि, इस

बीच कांग्रेस के शासन के दौरान और राजीव गांधी के समय में तथा उसके बाद ग्राम पंचायत पद्धति को शुरू करने का विचार आया और कुछ परिवर्तनों के बाद इसके प्रचलन में आने की संभावना हुई। पिछड़े हुए तथा विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के नीचे के वर्गों को स्वयं अपनी रक्षा करने के लिये, यदि पंचायत राज पद्धति को सफल बनाना है, तो यह पूर्णता आवश्यक है। यह महिलाओं को कंधे से कंधा मिलाकर उत्तरदायित्व निभाने में सक्षम बनाने के लिये आवश्यक हो गया है, क्योंकि देश में स्थिति काफी बिगड़ चुकी है। जो कार्य पुनर्जागरण काल तथा गत 20 वर्षों की अंतरिम अवधि से नेताओं द्वारा शुरू किया हुआ था। ऐसा लगता है वह पूरा नहीं होगा और महिलाएं ही न केवल असुरक्षित हैं, बल्कि वे कानून जो हाल के वर्षों में उन्हें समान अवसर प्रदान करते हैं, वास्तव में प्रभावशाली नहीं हैं।

डा० अम्बेडकर ने हिन्दू कोड विधेयक को पुरःस्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसमें महिलाओं के लिये विवाह और संपत्ति के अधिकारों की व्यवस्था थी। उन वर्षों के दौरान, जब भारत उनकी अगुवाई में संघर्षरत था, तब प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के पूरे प्राधिकार से भी हम इस कार्य को अंतरिम संसद से करा पाने में समर्थ नहीं हुए थे। यद्यपि डा० अम्बेडकर एक स्तम्भ-स्वरूप थे और उन्होंने महिला-सदस्यों तथा अन्य प्रगतिशील व्यक्तियों की सहायता से हिन्दू कोड विधेयक को अधिनियमित कराने में यथा-संभव प्रयास किया, लेकिन कुछ महत्वपूर्ण सदस्यों के बाधा डालने से, जिस पर अध्यक्ष और उपाध्यक्ष ने कोई आपत्ति नहीं की थी। यह स्पष्ट हो गया था कि डा० अम्बेडकर तथा अन्य उन दृढ़ संकल्पी व्यक्तियों, जिन्होंने विधेयक का समर्थन किया था, इसे अधिनियमित कराने से पहले ही अंतरिम संसद की अवधि पूरी हो जाएगी। उस समय दुर्गाबाई ने और मैंने पंडित नेहरू से बात की थी और इस मामले पर कुछ मनन करने के बाद उन्होंने कहा था, "क्या आप इस बात से सहमत हैं कि मैं महिलाओं के लिए समान अधिकारों का पक्षधर हूं?" हमने कहा, "जी हां, निःसंदेह"। तब उन्होंने कहा, "हमारे लिये यह आसान रहेगा कि हम इसे अपने चुनाव घोषणा पत्र में शामिल करें और यदि हम चुनाव में विजयी रहते हैं तब हिन्दू महिलाओं के लिए विवाह और संपत्ति के मामले में महिलाओं का समान अधिकार संबंधी विधेयक के पुरःस्थापन को कोई नहीं रोक सकेगा।" डा० अम्बेडकर और इनमें से अधिकांश इसका स्थगन नहीं चाहते थे, लेकिन इसका कोई विकल्प भी नहीं था। फिर हिन्दू कोड को विवाह और संपत्ति संबंधी दो भिन्न विधेयकों में विभाजित कर दिया गया और दोनों ही पहली संसद में अधिनियमित कर दिये गये। फिर भी, भारत की महिलाएं डा० अम्बेडकर की अत्यन्त आभारी हैं। उन्होने न केवल हिन्दू कोड संबंधी विधेयकों को तैयार किया था और उन्हें अधिनियमित कराने का प्रयास किया था, बल्कि वह यह तथ्य भी हमारी जानकारी में

लाए थे कि उस समय पंचायत राज विनाशकारी होता। डा० अम्बेडकर में अन्य बहुत सी खूबियां थीं। वह प्रारूप तैयार करने वाली समिति के सभापति थे। इस संदर्भ में यह कोई नहीं नकार सकता कि 2 वर्षों की अल्प अवधि में तैयार किया गया भारतीय संविधान का प्रारूप जो बहुत अधिक विस्तृत न होने के बावजूद बहुत अच्छा और दूसरों के लिये एक आदर्श है।

जैसाकि मैंने प्रारम्भ में ही उल्लेख किया है कि संविधान सभा में डा० अम्बेडकर के साथ कार्य करने के समय से बहुत पहले से ही मैं उनके व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित थी। वह वास्तव में सभी समस्याओं का दृढ़ निश्चय से समाधान ढूंढ़ने वाली महान हस्ती थी यह स्मरणीय है कि अनुसूचित जाति से संबद्ध होने के कारण उन्हें अपमान सहना पड़ा था लेकिन इस व्यक्ति के गुण इस प्रकार के थे कि कोई भी कार्यवाही और किसी भी तरह का अपमान उनकी शक्ति और ताकत के सामने बाधा नहीं बन सका। मुझे वास्तव में हर्ष है कि उनके प्रबल व्यक्तित्व को उसकी उचित मान्यता प्रदान की जा रही है। उन्होंने उसी प्रकार महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जैसी कि उन कुछ नेताओं ने निभाई थी जिनका हम इसलिए आदर करते हैं, क्योंकि वे देश के स्वतंत्रता संघर्ष में अग्रगामी रहे थे। इस महान व्यक्तित्व ने कष्टकारी जाति-प्रथा और मानव-मात्र के प्रति अन्याय के विरुद्ध, जो लड़ाई लड़ी, इससे भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान उन्हें स्वतः ही प्राप्त हो जाता है।

8

डा० बी० आर० अम्बेडकर और संविधान सभा और संसद में उनका योगदान

—एस० एल० शकधर*

संविधान सभा की पहली बैठक 9 सितम्बर, 1946 को हुई। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने 13 दिसम्बर, 1946 को अपना उद्देश्य संकल्प रखा। इसे 22 जनवरी, 1947 को संविधान सभा द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। इसने 29 अगस्त, 1947 को संवैधानिक सलाहकार द्वारा तैयार किये गये मूल-संविधान के प्रारूप की संविक्षा करने और समिति द्वारा संशोधित संविधान प्रारूप को संविधान सभा के समक्ष विचारार्थ पेश करने के लिए एक प्रारूप समिति नियुक्त की।

पश्चिम बंगाल विधान सभा के सदस्यों ने डा० बी०आर० अम्बेडकर को संविधान सभा के सदस्य के रूप में निर्वाचित किया। उन्हें प्रारूप समिति के सदस्य के रूप में निर्वाचित किया गया और बाद में वे उसके सभापति नियुक्त किए गये। प्रमुख देशों के संविधानों और भारत सरकार अधिनियम, 1935 के कार्यकरण के बाद में उनकी पूर्ण जानकारी ने संविधान का प्रारूप तैयार करने में उनकी भूमिका में उन्हें काफी सहायता प्रदान की। उनके द्वारा प्रारूप में विशिष्ट प्रावधानों पर आधारित सिद्धान्त का प्रतिपादन सुविधाजनक और युक्ति-युक्त संविधान ढंग से सभा में किसी ओर से भी की गई आलोचना का सामना कर सकता था। सुप्रसिद्ध संवैधानिक इतिहासज्ञ और लेखक श्री एम० वी० पायली का हमारे संविधान के निर्माण में डा० बी० आर० अम्बेडकर के योगदान के बारे में कहना है कि:

> संविधान सभा में एकमात्र डा० बी० आर० अम्बेडकर ही तर्क में अत्यन्त प्रभावशाली और विश्वासोत्पादक, अभिव्यक्ति में स्पष्ट और सुबुद्ध तथा वाद-विवाद में कुशाग्र और रूचिकर थे और इसके बावजूद वे किसी आलोचक को मुहा उठाने

---

*श्री एल० एल० शकधर — लोक सभा के भूतपूर्व महासचिव और भूतपूर्व मुख्य निर्वाचन आयुक्त हैं।

किया है उस प्रकार कोई नहीं कर सकता था। हमने डा० अम्बेडकर को प्रारूप समिति का सदस्य चुनने और बाद में उन्हें इसका सभापति बनाने से बढ़कर कभी कोई इतना सही निर्णय नहीं लिया। उन्होंने अपने चयन को न्यायसंगत ही नहीं ठहराया बल्कि जो कार्य किया उसमें भी चार-चांद लगा दिये।

अपनी पर्याप्त बौद्धिक इमानदारी से अम्बेडकर ने संविधान का प्रारूप तैयार करने का श्रेय संवैधानिक सलाहकार, अपने प्रारूप समिति के सहयोगियों श्री एस०एन० मुखर्जी जिन्हें वे "संविधान का मुख्य प्रारूपकार" कहा करते थे और अपने स्टाफ के सदस्यों को दिया। उन्होंने कांग्रेस पार्टी को भी बधाई दी और कहा:—

> प्रारूप समिति, कांग्रेस पार्टी के अनुशासन के कारण ही प्रत्येक अनुच्छेद और संशोधन के संबंध में निश्चित जानकरी के साथ संविधान सभा में संविधान तैयार करने में सक्षम रहीं। इसीलिए, कांग्रेस पार्टी को सभा में संविधान के प्रारूप को निर्बाध रूप से तैयार करने का पूरा श्रेय मिलना चाहिए।

संविधान के भावी कार्य का देखते हुए, अम्बेडकर ने अपना निष्पक्ष विचार व्यक्त किया था कि संविधान का कार्य पूर्णतः संविधान की प्रकृति पर निर्भर नहीं करता है। उन्होंने आगे कहा:—

> संविधान केवल विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका जैसे राज्य के अंग दे सकता है। जिन कारकों पर राज्य के इन अंगों का कार्य निर्भर करता है वे हैं जनता और उसके द्वारा अपनी इच्छाओं और नीतियों के क्रियान्वयन के लिए उपकरण के रूप में गठित किए गए राजनीतिक दल .....

डा० अम्बेडकर सितम्बर, 1951 में त्याग पत्र देने तक, नेहरू मंत्रिमण्डल में विधि मंत्री थे। वे मार्च 1952 में राज्य परिषद के सदस्य के रूप में चुने गये। उनका अकस्मात् 5 दिसम्बर, 1956 को निधन हो गया। प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में "डा० अम्बेडकर ने भारत के संविधान के निर्माण में, तत्पश्चात् संविधान सभा के विधायी भाग में और उसके बाद अन्तरिम संसद में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

डा० अम्बेडकर को हिन्दू विधि सुधार के संबंध में संसद में उनके प्रयत्नों के लिए भी याद किया जायेगा। उन्होंने हिन्दू कोड बिल को 5 फरवरी, 1951 को संसद में प्रस्तुत किया। वे 1952 के प्रथम आम चुनावों से पहले विधेयक को

संसद की स्वीकृति दिलाना चाहते थे। अतः विधेयक उनके जीवनकाल के दौरान केवल आंशिक रूप से ही पारित हो सका । उनके समकालीन व्यक्तियों में से कुछ लोग ऐसे भी थे जो यह महसूस करते थे कि डा० अम्बेडकर ने जिन सिद्धान्तों को संविधान के मूल प्रारूप में आधार बनाया है वे कई अर्थों में बेहतर थे।

यहां मैं इस महान प्रतिभा को अपनी विशेष श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं। मैं उनके व्यक्तिगत संपर्क में श्री एम०एन० कौल, जो उस समय केन्द्रीय विधान सभा के सचिव थे और बाद में संविधान सभा (विधायीका), अन्तरिम संसद और लोकसभा के सचिव भी बने, के माध्यम से, उस समय आया जब उन्होंने संविधान सभा की प्रारूप समिति में अपना कार्य करना आरंभ किया था। डा० अम्बेडकर उनसे प्रायः संसद से सम्बन्धित प्रावधानों पर विचार विमर्श किया करते थे और हम दोनों साथ उनके यहां जाया करते थे और प्रारूप के विभिन्न अनुच्छेदों पर उनके साथ खुलकर बातचीत किया करते थे। अध्यक्ष, श्री जी०वी० मावलंकर की स्वीकृति से, हम संसद में राष्ट्रपति के अभिभाषण, संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक, संसद के विशेषाधिकार, वित्तीय प्रक्रियाएं, विनियोग विधेयक, संसदीय सचिवालय और कई अन्य संबद्ध मामलों से संबन्धित संविधान में प्रावधानों पर सलाह दे सके। हम इस प्रकार के मामलों से सम्बन्धित बहुत सारी सामग्री विश्व की विभिन्न संसदों से एकत्र करते और इस पर उनके साथ चर्चा किया करते थे। वे एक मिलनसार स्वभाव के व्यक्ति थे; तर्कों को ध्यान से सुनते थे, एक अच्छा श्रोता, एक सुविश आलोचक थे जिनमें विभिन्न विचारों का सम्मिश्रण पाया जाता था। वे अपने विचार एवं भाषण में वैधानिक और तकनीकी शब्दों में स्पष्ट थे तथा प्रारूपण में सुस्पष्ट और संक्षिप्त थे। मुझे याद है कि मैंने उनके साथ कई शाम बितायी थी। जब हम दोनों इन सभी मामलों पर चर्चा किया करते थे और एक-एक करके इन्हें निपटाते जाते थे।

बाद में, मैं फिर संसदीय कार्य विभाग के सचिव के रूप में, उनके संपर्क में आया जब वे विधायी और संसदीय कार्य सम्बन्धी कैबिनेट समिति के सभापति के रूप में कार्य कर रहे थे। उस स्थिति में मुझे संसद के दोनों सदनों की कार्य सूचियों की व्यवस्था करनी पड़ती थी और मुझे याद है कि डा० अम्बेडकर अपने प्रिय हिन्दू कोड बिल को लोक सभा की स्वीकृति दिलाने के अपने प्रयत्न में कितने सही थे। इस विधेयक के लिए उनमें बड़ा उत्साह था और वे वस्तुतः इसके बारे में हमेशा सोचा करते थे। वे किसी भी उस विषय से सम्बन्धित विपुल साहित्य के, जो उनके विचाराधीन था, बहुत बड़े पाठक थे, फिर चाहे वह संविधान हो या हिन्दू कोड या कोई अन्य विधेयक, वे हमेशा पुस्तकों से घिरे रहते थे। और उन्हें पुराने विचारों को आत्मसात करते हुए और नये विचारों का आह्वान करते हुए देखने में एक बड़ा ही आनन्द का अनुभव होता था।

भारतीय संसद ने इस संविधान सभा और संसदविज्ञ की मूर्ति संसद भवन परिसर में विशिष्ट स्थान पर लगाकर उन्हें उचित सम्मान दिया है। अब कई वर्षों से इस स्थान पर प्रतिवर्ष अम्बेडकर जयन्ती भी मनायी जाती है।

9

बाबा साहब डा० भीमराव अम्बेडकर : कुछ पुरानी यादें

— श्री अक्षय कुमार जैन*

19वीं शताब्दी हमारे देश में महापुरुषों की जन्म शताब्दी कही जा सकती है। इस शताब्दी में महात्मा गांधी, जवाहर लाल नेहरू, सरदार पटेल, मालवीय जी, मौलाना आजाद जैसे महापुरुषों का जन्म हुआ, जिन्होंने देश को राजनीतिक चेतना देने में अद्वितीय मार्गदर्शन किया। इसी शताब्दी में सामाजिक क्रान्ति का उद्घोष भी हुआ। इन्हीं में डा० भीम राव अम्बेडकर जी का जन्म 14 अप्रेल 1891 को अछूत माने जाने वाले एक सामान्य से महार परिवार में हुआ था।

चातुर्वण्य- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र - जब प्रारंभ हुआ होगा तब उसकी उपयोगिता भी रही होगी, क्योंकि तब पूरे समाज में श्रम का विभाजन आवश्यक लगा होगा, किन्तु कालान्तर में उसमें विकृति आती गयी और एक समाज के चार अंगों के स्थान पर वह छोटे-बड़े, सवर्ण-अवर्ण, छूत-अछूत आदि विसंगतियों का घर बन गया। ऐसे समय में डा० अंबेडकर जैसे कुशाग्र बुद्धि बालक को पग-पग पर अपमान का सामना करना पड़ा। दिल्ली में जब वे भारत-सरकार में सम्माननीय मंत्री थे, हमें उनसे अनेक बार मिलने का सुयोग हुआ था। उन्होंने अपने बचपन की कुछ हृदय विदारक घटनायें सुनाई थी जिनसे पता चलता था कि किस प्रकार वे उदार माने जाने वाले हिन्दू समाज के अनुदार नेताओं से विमुख होते गये और अन्त में उन्होंने हिन्दू धर्म का परित्याग कर एक अन्य भारतीय बौद्ध धर्म को अंगीकार किया।

एक घटना है जब वे केवल सात वर्ष के थे, अपने एक कुटुम्बी भाई के साथ वे बैलगाड़ी से दूसरे गांव जा रहे थे। मार्ग में उन्हें अपने ही गांव का एक पंडित मिल गया, जिसनें उस गाड़ीवान से कहा कि तू इन अछूत लड़कों को अपनी गाड़ी में बैठाकर ले जा रहा है और क्यों भीमा तेरी यह हिम्मत? हम द्विजों की तरह से गाड़ी में

---

*श्री जैन एक प्रसिद्ध पत्रकार और पद्म भूषण से विभूषित हैं।

बैठकर चला जा रहा है। फिर तो गाड़ीवान ने उन दोनों छोटे बच्चों को गाड़ी से उतारा नहीं, फेंक ही दिया।

एक दूसरी घटना उन्होंने नाई के साथ हुए सम्भाषण की भी बतलाई। उस समय भी वे दस वर्ष से भी कम उम्र के बालक थे। वह नाई उस समय किसी मैंस के बाल काट रहा था, तभी बालक भीम राव ने अपने बाल काटने के लिए उससे कहा, किन्तु नाई ने यह कहकर उन्हें झिड़क दिया कि मैं तो सवर्णों के बाल बनाता हूं, अछूतों के नहीं। डा० साहब ने मुझसे कहा कि उस दिन मेरे बाल मन पर यह प्रभाव पड़ा कि हम तो पशुओं से भी गए बीते हैं।

स्कूल की प्रारंभिक शिक्षा में वे अपने साथियों से अधिक तेज थे। सबसे प्रथम आते थे। इसलिए वे एक दिन अध्यापक के निकट के स्थान पर ही बैठ गये। अध्यापक चित पावन ब्राह्मण थे, उन्होंने उन्हें वहां से तो उठा ही दिया, अछूत होने के कारण भद्दी गालियां भी दीं, और तम्बीह कर दी कि सवर्णों के बच्चों के साथ न बैठकर सबसे अन्त में बैठना चाहिए। डा० अम्बेडकर बुढ़ापे में भी इस घटना को नहीं भूले थे।

1916 में उन्होंने अमरीका के कोलम्बिया विश्वविद्यालय से एम०ए० और पी०एच०डी० की डिग्री प्राप्त की और लौटकर बम्बई के सिडेन हेम कालेज में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर हो गये। उन्होंने स्वयं उस समय की एक घटना सुनाई, जिसे वे भूल नहीं सकते थे। एक दिन उन्होंने प्रोफेसरों के कमरे में रखी सुराही से पानी लेकर पी लिया तो उस सुराही को बाहर फिकवा दिया गया। उनके साथी प्राध्यापक एक ही बरतन से पानी लेकर पीने को राजी न थे। इस व्यवहार से खिन्न होकर वे वकालत पास करने ब्रिटेन गये। यहां से सफलता प्राप्त कर उन्होंने बम्बई उच्च न्यायालय में वकालत प्रारम्भ कर दी। इन दिनों उनकी मान एवं प्रतिष्ठा बढ़ती जा रही थी। न्यायाधीश तथा साथी वकील उन्हें इज्जत के व्यवहार से देखते थे किन्तु पानी पिलाने वाला भाट उन्हें पानी पिलाने को तैयार नहीं था। एक और घटना उन्होंने सुनाई थी, जिसके बारे में उनका कहना था कि उससे उनका धैर्य का घड़ा फूट गया। घटना इस प्रकार थी:

बम्बई के ठाकुर द्वार में एक नये मंदिर का निर्माण हुआ था, उसके मंत्री ने डा० अम्बेडकर को उसे देखने के लिए आमंत्रित किया। मंदिर का शीघ्र ही उद्घाटन होने वाला था। डा० अम्बेडकर श्रद्धापूर्वक मंदिर के अन्दर जगमोहन में चले गये। तभी बाहर अगड़ी जाति वाले पड़ोसियों की भीड़ इकट्ठी हो गयी। गाली-गलौच शुरू हो गई और वह भीड़ मंदिर के अंदर पहुंचकर डा० अम्बेडकर का अपमान करती हुई उनको पकड़कर बाहर ले आयी। बाबा साहब ने मुझे बतलाया कि उस अपमान के

बाद मैंने निर्णय किया कि सजातीय युवकों को संगठित करूंगा और हिन्दू समाज के ठेकेदारों को यह बताऊंगा कि मनुष्य-मनुष्य में कोई अन्तर नहीं होता।

जागृति लाने के लिए उन्होंने 1920 में मराठी पाक्षिक "मूकनायक" का प्रकाशन शुरू किया। उसके चार वर्ष बाद दलितों के एक संगठन के लिए "बहिष्कृत हितकारी" पत्र का प्रकाशन किया गया और तीन वर्ष बाद 1927 में उनका दलित उद्धारक आन्दोलन इतना बढ़ा कि उन्होंने एक पाक्षिक पत्र 'बहिष्कृत भारत' के नाम से निकाला।

उसी वर्ष 1927 में एक और घटना घटी। बम्बई के सार्वजनिक तालाब पर डा० अम्बेडकर युवकों की एक टोली को साथ लेकर पानी लेने के लिए पहुंचे। सवर्ण लाठी और बर्छियां लिये वहां तैयार थे, हिंसा होने की वहां आशंका थी। पुलिस ने डाक्टर साहब से अनुनय करके उन्हें वहां से लौटा दिया किन्तु दलितों के अधिकार के लिए वे अदालत में गये और 10 वर्ष तक मुकदमा लड़कर 1937 में बम्बई उच्च न्यायालय से वे विजयी हुये।

हरिजनों के प्रतिनिधि की हैसियत से वे लंदन में हुए तीनों गोल मेज परिषदों में (1930-33) शरीक हुए। 1931 में उन्होंने हरिजनों के लिए पृथक निर्वाचन की मांग की। महात्मा गांधी ने इसका विरोध किया, किन्तु तत्कालीन भारत सरकार ने 1932 में कम्युनल एवार्ड देकर उनकी उस मांग को स्वीकार कर लिया। इस पर गांधीजी ने पूना में आमरण अनशन कर दिया। और फिर पूना पैक्ट हुआ, जिससे महात्मा गांधीजी की जीवन रक्षा हुई। उसका श्रेय बाबा साहब को ही दिया जाएगा।

डाक्टर साहब ने मुझे बताया कि 1935 में उन्होंने अपने इस फैसले की घोषणा की कि भारत के हरिजन हिन्दू समाज छोड़कर अन्य धर्म स्वीकार करेंगे। तब सिखों की ओर से भी प्रेरणा दी गई, किन्तु डा० अम्बेडकर के साथी उसके लिए राजी न हुए और वह बात आई-गई हो गयी।

1946 में अन्तरिम स्वराज्य सरकार का गठन हुआ। नई दिल्ली में संविधान निर्मात्री परिषद की बैठकें प्रारंभ हुईं। उन्हीं दिनों की घटना है, एक दिन श्री नेहरू एवं श्रीमती सरोजनी नायडू गांधी जी से मिलने आए। पंडित जी कुछ सुस्त थे। बापू ने सुस्ती का कारण पूछा तो नेहरूजी ने बतलाया कि भारत के संविधान के निर्माण के लिए एक संविधान शास्त्री की आवश्यकता है। कुछ अन्य एशियाई देशों के संविधान निर्माता आयुवर जैनिग्स को बुलाने की बात सोची जा रही है तभी गांधी जी ने कहा कि अपने देश के महान संविधान विशेषज्ञ डा० भीम राव अम्बेडकर को तुम क्यों भूल रहे हो और इस प्रकार डा० अम्बेडकर को कांग्रेस दल ने अपने सदस्य की हैसियत से

संविधान परिषद में नामजद किया। यह सर्वविदित है कि हमारे देश के संविधान के निर्माताओं में डा० अम्बेडकर का कितना ऊंचा स्थान है।

जब 1950-51 में हिन्दू स्त्रियों के निस्तार के लिए हिन्दू कोड बिल लाया गया उसका प्रारूप भी डा० साहब के मशवरे से तैयार हुआ था, किन्तु आगे चलकर उस पर मतभेद हुआ और सितम्बर 1951 में डा० साहब ने भारत सरकार से त्यागपत्र दे दिया।

अगले वर्ष 1952 के लोक सभा चुनाव में वे खड़े तो हुए पर जीत न सके। उनका स्वास्थ्य दिन-दिन गिरता जा रहा था और अब वे 1935 में लिए अपने संकल्पों को पूरा करना चाहते थे। अतः 14 अक्टूबर 1956 को नागपुर में हजारों सहयोगियों के साथ उन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। और हमारे देश में इस नव बौद्ध धर्म का फिर से जोर बढ़ा और उसका विस्तार होता चला गया।

इसके बाद वे अधिक जीवित न रह सके। और 6 दिसम्बर 1956 को दिल्ली में दिवंगत हो गये।

बाबा साहब के नाम से विख्यात डा० भीम राव अम्बेडकर भारत माता के उन सपूतों में से थे जिन्होंने सामाजिक उद्धारक, संविधान निर्माता और आधुनिक मनु की संज्ञा प्राप्त की। उनकी जन्म शती के अवसर पर हमारी विनम्र श्रद्धांजली।

भाग—तीन

उनके विचार

संविधान सभा में डा० बी० आर० अम्बेडकर के चुने हुए भाषणों के उद्धृत अंश

एक मजबूत संघीय सरकार के संबंध में*

सभापति महोदय, आपके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करता हूं कि इस संकल्प** पर बोलने के लिए आपने मुझे आमंत्रित किया। मैं अवश्य ही यह स्वीकार करूंगा कि

---

*संविधान सभा वाद-विवाद, खण्ड 1, 17 दिसम्बर, 1846, पृष्ठ 14-21.

**पंडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा 13 दिसम्बर, 1946 का संविधान सभा में प्रस्तुत किया गया संकल्प: "(1) यह संविधान सभा भारतवर्ष को एक पूर्ण स्वतंत्र प्रभुसत्ता सम्पन्न जनतंत्र घोषित करने का दृढ़ और गम्भीर संकल्प प्रकट करती है और निश्चय करती है कि उसके भावी शासन के लिए एक विधान बनाया जाये।

(2) जिसमें उन सभी प्रदेशों का एक संघ रहेगा जो आज ब्रिटिश भारत तथा देशी रियासतों के अन्तर्गत तथा इनके बाहर भी हैं और जो आगे स्वतंत्र प्रभुसत्ता सम्पन्न भारत में सम्मिलित होना चाहते हों।

(3) जिसमें उपर्युक्त सभी प्रदेशों को, जिनकी वर्तमान सीमा (चौहद्दी) चाहे कायम रहे या संविधान सभा और बाद में संविधान के नियमानुसार बने या बदले, एक स्वाधीन इकाई या प्रदेश का दर्जा मिलेगा व रहेगा। उन्हें वे सब शेषाधिकार प्राप्त होंगे व रहेंगे जो संघ को नहीं सौंपे जाएंगे और वे शासन तथा प्रबन्ध संबंधी सभी अधिकारों को बरतेंगे सिवाय उन अधिकारों और कामों के जो संघ को सौंपे जाएंगे अथवा जो संघ में स्वभावतः निहित या सम्पृविष्ट होंगे या जो उससे फलित होंगे।

(4) जिसमें प्रभुसत्ता सम्पन्न स्वतंत्र भारत तथा उसके अंगभूत प्रदेशों और शासन के सभी अंगों की सारी शक्ति और सत्ता (अधिकार) जनता द्वारा प्राप्त होगी।

(5) जिसमें भारत के सभी लोगों (जनता) को कानून और साधारण सदाचार के अनुकूल निश्चित नियमों के आधार पर सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक न्याय, प्रतिष्ठा और अवसर का समानता और कानून के अनुसार विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, ईश्वरोपासन, व्यवसाय, संघ बनाने व काम करने की स्वतंत्रता के अधिकार रहेंगे और माने जाएंगे।

(6) जिसमें अल्पसंख्यकों के लिए पिछड़े व आदिवासी क्षेत्रों के लिए तथा दलित और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए पर्याप्त सुरक्षोपाय रहेंगे।

(7) जिसके द्वारा इस जनतंत्र के क्षेत्र की अखण्डता (आतंरिक एकता) रक्षित रहेगी और जल, थल और हवा पर उसके सब अधिकार, न्याय और सभ्य राष्ट्रों के नियमों के अनुसार रक्षित होंगे।

(8) यह प्राचीन देश संसार में अपना योग्य व सम्मानित स्थान प्राप्त करने और संसार में शान्ति तथा मानव जाति का हित-साधन करने में अपनी इच्छा से पूर्ण योगदान देगा।

आपका आमंत्रण पाकर मैं आश्चर्य मे पड़ गया। सूची में बीस-बाइस सदस्यों का नाम मुझ से ऊपर है और इसलिए मैं समझता था कि अगर बोलने का मौका मिले भी तो कल मिलेगा। मैं पसन्द भी यही करता कि कल बोलने का मौका मिलता क्योंकि आज मैं बिना किसी तैयारी के आया हूं। मैं चाहता था कि इस अवसर पर एक विस्तृत वक्तव्य दूं और उसके लिए मैं तैयारी कर लेना चाहता था। इसके अलावा आपने वक्ताओं के लिए 10 मिनट का समय निर्धारित कर दिया है। इन सब सुविधाओं के बीच मैं नहीं समझ पाता कि प्रस्तुत संकल्प पर समुचित रूप से किस किस तरह बोल पाऊंगा। अस्तु, जहां तक हो सकेगा .... संक्षेप में इस पर अपना मत व्यक्त करूंगा।

सभापतिजी, कल से जो बहस हो रही है उसे मद्देनजर रखते हुये इस संकल्प के दो हिस्से किये जा सकते हैं। एक हिस्सा ऐसा है जिस पर कोई विवाद नहीं है और दूसरा विवादास्पद है। संकल्प के उस भाग पर जिसमें 5 से 7 पैरा हैं, कोई विवाद नहीं है। इन पैरा में देश के भावी संविधान के लक्ष्यों पर प्रकाश डाला गया है संकल्प को पेश किया है पं० जवाहरलाल नेहरू ने जो एक समाजवादी की हैसियत से मशहूर हैं; परन्तु मैं यह अवश्य स्वीकार करूंगा कि मुझे इससे बड़ी निराशा हुई, यद्यपि यह विवाद-मूलक नहीं है। मैं तो यह आशा करता था कि वह उससे कहीं आगे जाएंगे जितना कि वह प्रस्ताव के इस मार्ग में गये हैं। इतिहास का विद्यार्थी होने के नाते मैं यह पसन्द करता हूं कि यह भाग संकल्प में शामिल ही न किया जाता। संकल्प को पढ़ने से वह घोषणा याद आ जाती है जिसे फ्रांस की विधान-परिषद् ने मानव-अधिकार-घोषणा के नाम से घोषित किया था। मैं समझता हूं कि मेरा यह कहना बिल्कुल दुरुस्त है कि आज 450 वर्ष बीत जाने पर भी उक्त घोषणा और उसमें दिये हुए सिद्धान्त लोगों के दिमाग में बस गये हैं। मैं तो कहूंगा कि यह दुनिया के सभ्य मुल्कों के नई रोशनी वाले आदमियों के दिमाग में ही नहीं घर कर गये हैं बल्कि हिन्दुस्तान जैसे मुल्क में भी, जो विचार और सामाजिक जीवन में इतना कट्टर और पुरातनवादी हैं कि शायद ही कोई ऐसा मिलेगा जो इनकी उपयोगिता न मंजूर करता हो। इन बातों को दुहराना, जैसा कि संकल्प में किया गया है, केवल पांडित्य-प्रदर्शन करना है। यह सिद्धान्त हमारी विचारधारा या दृष्टिकोण में व्याप्त है। अतः यह घोषित करना कि ये हमारे सिद्धान्त के अंग हैं नितान्त अनावश्यक है। इस संकल्प में और भी कई त्रुटियां हैं। मैं देखता हूं कि प्रस्ताव के इस भाग में यद्यपि अधिकारों की चर्चा की गई है पर उनकी सुरक्षा का कोई उपचार नहीं दिया गया है। हम

सभी इस बात को जानते हैं कि अधिकारों का तब तक कोई महत्व नहीं जब तक कि उनकी रक्षा की व्यवस्था न हो ताकि अधिकारों पर जब कुठाराघात हो तो लोग उनका बचाव कर सकें। ऐसे उपचारों का इस प्रस्ताव में बिल्कुल अभाव है। इस सामान्य सिद्धान्त का भी इसमें उल्लेख नहीं कि किसी नागरिक के जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति का तब तक अपहरण नहीं किया जायेगा जब तक कि कानून खूब जांच-पड़ताल कर इसकी आज्ञा न दे दे। संकल्प में उल्लिखित मौलिक अधिकारों को भी कानून और सदाचार के आधीन रख दिया गया है। निश्चय ही, कानून और सदाचार क्या है इस बात का निर्णय आज की कार्यपालिका करेगी, किसी प्रबंध का एक फैसला हो सकता है और दूसरे का दूसरा। हम निश्चय रूप से यह नहीं जानते कि इन मौलिक अधिकारों की स्थिति क्या होगी अगर ये आज के शासन-प्रबन्ध की मर्जी पर छोड़ दिये जाते हैं।

संकल्प में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय की व्यवस्था भी रखी गई है। यदि संकल्प में कोई वास्तविकता है। इसमें कोई सच्चाई है और इसकी सच्चाई पर मुझे जरा भी शक नहीं है क्योंकि उसे प्रस्तुत किया है माननीय पंडित जवाहरलाल नेहरू ने, तो मैं यह उम्मीद करता हूं कि इसमें कुछ ऐसी व्यवस्था भी होनी चाहिए थी जिससे राज्य के लिए यह सम्भव हो जाता कि वह सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय प्रदान कर सकता और इसी विचार से मैं इस बात की आशा करता कि संकल्प साफ-साफ शब्दों में कहता, कि ताकि सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय प्रदान किया जा सके। देश में उद्योग-धंधों का और भूमि का राष्ट्रीयकरण किया जायेगा। मेरी समझ में नहीं आता कि जब तक देश की अर्थ-नीति समाजवादी नहीं होती, किसी भी भावी हुकुमत के लिए यह कैसे सम्भव होगा कि वह सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय प्रदान कर सके। अतः यद्यपि व्यक्तिगत रूप से मुझे इन सिद्धान्तों के सन्निहित किए जाने पर कोई आपत्ति नहीं है फिर भी संकल्प मेरे लिए निराशाप्रद ही है। अस्तु इतना कह देने के बाद इस विषय को मैं यहीं समाप्त कर देता हूं।

अब मैं प्रस्ताव के पहले हिस्से पर आता हूं, जिसमें प्रथम चार पैरा शामिल हैं। सभा के वाद-विवाद को देखकर मैंने कहा था कि यह प्रसंग विवादास्पद हो गया है। सारा विवाद, "रिपब्लिक" शब्द पर केन्द्रित है। पैराग्राफ चार के इस वाक्य पर "सारी शक्ति, सारे अधिकार जनता से प्राप्त होंगे," सारा विवाद है। अतः डाक्टर जयकर ने कल जो यह बात कही कि मुस्लिम लीग की गैरहाजिरी में यह उचित न होगा कि सभा इस संकल्प पर विचार करे, उसी पर सारा विवाद है। आगे चलकर इस देश में क्या विकास होगा इस बात को लेकर मेरे मन में जरा भी संदेह नहीं है। मैं जानता हूं कि आज हम राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक सभी दृष्टियों से विभक्त हैं। आज हमारा देश कई लड़ाकू दलों में बंट गया है और मैं तो यहां तक मंजूर करूंगा कि ऐसे ही एक लड़ाकू दल के नेताओं में

शायद मैं भी एक हूं। परन्तु महोदय, इन सब बातों के बावजूद भी मुझे इस बात का पक्का विश्वास है कि समय और परिस्थिति अनुकूल होने पर दुनिया की कोई भी ताकत इस मुल्क को एक होने से रोक नहीं सकती। जाति और धर्म की भिन्नता के बावजूद भी हम किसी न किसी रूप में एक होंगे, इसमें मुझे जरा भी शक नहीं है। यह कहने में मुझे रंच मात्र भी संकोच नहीं है कि यद्यपि मुस्लिम लीग आज भारत के विभाजन के लिये भयानक आन्दोलन कर रही है पर एक-न-एक दिन स्वयं मुसलमानों में बुद्धि आएगी और वे समझने लगेंगे कि उनके लिए भी संयुक्त भारत ही अधिक कल्याणकर है। (तुमुल ध्वनि)।

इसलिए जहां तक हमारे लक्ष्य का संबंध है, हममें से किसी को भी कोई आशंका नहीं होनी चाहिए, कोई संदेह न होना चाहिए। हमारी कठिनाई यह नहीं है कि हमारा भविष्य क्या होगा। हमारी कठिनाई तो यह है कि अपनी आज की इस विशाल, पर बेमेल आबादी को किस तरह इस बात पर आमादा करें कि वह मिलें जुलकर एक फैसला करे और ऐसा पथ ग्रहण करें कि हम सब एक हो जाएं। हमारी कठिनाई इति को लेकर नहीं अथ को लेकर है। हमारा लक्ष्य क्या है, यह तो साफ है। पर परेशानी यह है कि काम शुरु कैसे करें। इसलिए सभापति महोदय, मैं तो समझता हूं कि सभी को रजामंद करने के लिए, हमारे देश के प्रत्येक वर्ग को इस बात पर आमादा करने के लिए कि हम सब एक राह पर चलें, बहुमत वाले दल की यह बड़ी से बड़ी राजनीतिज्ञता होगी कि वह उन लोगों की गलत धारणा को दूर करने के लिए कुछ रियायतें दे दें जो आज हमारे साथ चलने में दुविधा बोध कर रहे हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर मैं यह अनुरोध कर रहा हूं। हम ऐसे नारे लगाने बन्द कर दें जिनसे लोगों को भय होता हो। अपने विरोधियों की पक्षपातपूर्ण धारणा को दूर करने के लिए उन्हें कुछ रियायतें दें, ताकि वह स्वेच्छा से हमारे साथ उस पथ पर चलें जिस पर कुछ दूर चलने के बाद हम अपनी एकता की मंजिल पर पहुंच जाएंगे। अगर मैं यहां डाक्टर जयकर के संशोधन का समर्थन कर रहा हूं तो केवल इस उद्देश्य से कि हम सभी यह समझें कि यह कानूनी प्रश्न नहीं है। हम सहीं हैं या गलत, जो रास्ता हम ग्रहण कर रहे हैं वह हमारे कानूनी अधिकारों से संगत है या नहीं, वह 16 मई या 6 दिसम्बर के वक्तव्यों के अनुरूप है या नहीं, इन सब बातों को छोड़ दीजिये। हमारी समस्या इतनी गहन है कि कानूनी अधिकारों से उसका समाधान न होगा। यह कानूनी समस्या है ही नहीं। हमें कानूनी ख्याल को छोड़कर कुछ ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे वे लोग जो नहीं शामिल हैं, शामिल हो जाएं। हम उनका यहां आना सम्भव बनाएं, यही मेरी प्रार्थना है।

चर्चा के दौरान दो ऐसे प्रश्न उठाये गये थे जो मुझे इतने खटके कि मैंने उन्हें कागज पर नोट कर लिया है। एक प्रश्न मेरा ख्याल है, मेरे मित्र बिहार के प्रधान मंत्री ने उठाया

था जो कल सभा में बोले थे। उन्होंने कहा था भला यह प्रस्ताव मुस्लिम लीग को विधान परिषद् में सम्मिलित होने से कैसे रोक सकता है? आज मेरे मित्र डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने एक दूसरा प्रश्न पूछा है कि क्या यह प्रस्ताव कैबिनेट मिशन प्रस्ताव के विपरीत है? मैं समझता हूं कि ये बड़े गम्भीर प्रश्न हैं और इनका उत्तर और स्पष्ट उत्तर आवश्यक है। यह प्रस्ताव चाहे खूब सोच-समझ कर शान्त चित्त से प्रस्तुत किया गया हो या केवल संयोगवश बन गया हो, पर मैं तो यही मानता हूं कि इसका यह परिणाम होगा कि मुस्लिम लीग बाहर ही रह जायेगी, भले ही यह प्रस्ताव इस परिणाम के अभिप्राय से न बनाया गया हो। इस संबंध में मैं आपका ध्यान संकल्प के पैरा 3 की ओर आकृष्ट करूंगा जो मेरी समझ में बहुत महत्वपूर्ण और आवश्यक है। इस पैरा में भारत के भावी संविधान की तस्वीर है। मैं नहीं जानता कि प्रस्तावक महोदय का क्या अभिप्राय है। पर मैं मानता हूं कि पास हो जाने पर संविधान सभा के लिये यह प्रस्ताव एक तरह से आदेश-मूलक हो जायेगा कि वह इसके पैरा 3 के अनुसार ही संविधान बनाये। पैरा 3 क्या कहता है? यह कहता है कि इस देश में दो भिन्न-भिन्न राज्य पद्धतियां होंगी एक तो उन स्वायत्त प्रान्तों, रियासतों या अन्य प्रदेशों के लिए जो भारतीय संघ में शामिल होना चाहते हैं। इन स्वायत्त प्रदेशों को सारे अधिकार प्राप्त होंगे। इन्हें अवशिष्ट अधिकार भी प्राप्त रहेंगे। उन स्वायत्त प्रदेशों के ऊपर एक संघ सरकार होगी जिसके अधिकार में कुछ विषय होंगे। जिन पर कानून बनाने का, शासन चलाने का अधिकार होगा। प्रस्ताव के इस हिस्से में गुटबन्दी का कहीं जिक्र नहीं है। यह गुट संघ सरकार और घटकों के बीच एक मध्यवर्ती संगठन है। कैबिनेट मिशन के वक्तव्य को दृष्टि में रखते हुए या कांग्रेस के वर्धा वाले प्रस्ताव को देखते हुए मैं स्वीकार करता हूं कि स्वयं मुझे बड़ा आश्चर्य है कि प्रस्ताव में गुटबन्दी की कल्पना का कहीं जिक्र भी नहीं है। व्यक्तिगत रूप से मैं प्रान्तों की गुटबन्दी के विचार को नहीं पसन्द करता। मैं एक दृढ़ और संयुक्त-केन्द्र चाहता हूं उससे भी ज्यादा मजबूत केन्द्र जो सन् 1935 के ऐक्ट के मुताबिक बना है। परन्तु सभापति महोदय, इन इच्छाओं का, रायों का स्थिति पर कोई असर नहीं पड़ने का। हम बहुत आगे बढ़ चुके हैं। मैं तो कहूंगा कि कांग्रेस स्वयं दृढ़ केन्द्र को विघटित करने पर राजी हो गई, ऐसे दृढ़ केन्द्र को विघटित करने पर जो 150 वर्षों के लम्बे शासन के बाद बना था और जो, मैं कह सकता हूं कि मेरे लिए एक प्रशंसा, सम्मान और कल्याण की चीज थी। पर जब हमने उस स्थिति को त्याग दिया है, जब हमने स्वयं स्वीकार किया है कि हम मजबूत केन्द्र नहीं चाहते जब हमने मंजूर कर लिया है कि संघ सरकार और प्रान्तों के बीच उपसंघ की-सी एक मध्यवर्ती राज्य पद्धति होनी चाहिए, तो मैं जानना चाहता हूं कि प्रस्ताव के पैरा 3 में गुटबन्दी का जिक्र क्यों नहीं किया गया है? मैं जानता हूं कि कांग्रेस, मुस्लिम लीग और सम्राट की सरकार तीनों ही योजना की गुटबन्दी संबंधी धारा के अर्थ पर मतभेद रखते हैं।

परन्तु मैं तो हमेशा से यही समझता हूं कि कांग्रेस ने यह मंजूर कर लिया है कि यदि भिन्न-भिन्न गुटों के प्रान्त अपना उपसंघ बनाने पर राजी हों तो कांग्रेस को इस व्यवस्था पर कोई आपत्ति नहीं है। मेरा विश्वास है कि कांग्रेस दल की विचारधारा समझने में मैं सही हूं। मैं यह पूछना चाहता हूं कि प्रस्तावक और उनके दल ने जिन शर्तों पर प्रान्तों की गुटबन्दी या उनके उपसंघ बनाने की कल्पना को स्वीकार किया था उसका उस प्रस्ताव में आखिर प्रस्तावक ने हवाला क्यों नहीं दिया है? इस प्रस्ताव में मध्यवर्ती संघ का जिक्र दूर ही क्यों रखा गया है? मुझे कोई भी उत्तर नहीं मिलता है। इसलिए बिहार के प्रधानमंत्री ने और डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने जो सभा से प्रश्न किया है कि भला यह प्रस्ताव 16 मई के वक्तव्य के विपरीत कैसे है और यह लीग को संविधान सभा में आने से कैसे रोकता है, उसके उत्तर में मैं कहूंगा कि आपके इस प्रस्ताव के तीसरे पैरे से मुस्लिम लीग अवश्य लाभ उठायेगी और अपनी लगातार अनुपस्थिति का औचित्य दिखायेगी। सभापति जी, कल मेरे मित्र डा० जयकर ने इस प्रश्न पर जयकर रखने के लिए अपने पक्ष का प्रतिपादन कुछ कानूनी ढंग पर किया उनकी दलील का यह आधार था कि क्या हमें इस प्रस्ताव को पास करने का अधिकार भी है। उन्होंने मंत्रिप्रतिनिधिमंडल के वक्तव्य का कुछ भाग पढ़कर सुनाया जो इस सभा की कार्य-विधि से सम्बन्ध रखता है। उनका मन्तव्य यह था कि इस प्रस्ताव पर तुरन्त निर्णय करने की जो पद्धति सभा अपना रही है यह योजना में दी हुई पद्धति के प्रतिकूल है मैं इस बात को दूसरी तरह से सभा के सामने रखना चाहता हूं। मैं आपसे यह नहीं पूछना चाहता कि आपको यह प्रस्ताव जल्दबाजी में पास कर देने का हक है या नहीं। हो सकता है कि आपको यह अधिकार हो। पर जो बात मैं आपसे पूछना चाहता हूं, वह यह है कि क्या इस प्रस्ताव को पास करना आपके लिए बुद्धिमानी और नीतिज्ञता की बात होगी? अधिकार एक बात है और बुद्धिमत्ता दूसरी। मैं चाहता हूं कि सभा इस बात पर दूसरे ही दृष्टिकोण से विचार करे। वह इस दृष्टिकोण से इस पर विचार न करे कि उसे इस प्रस्ताव को पास करने का हक है या नहीं। अपितु इस ख्याल से कि क्या इसे अभी पास करना बुद्धि-संगत होगा, नीतिज्ञता की बात होगी? मेरा कहना कि ऐसा करना बुद्धिमत्ता और नीतिज्ञता से विपरीत है। मेरा सुझाव है कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के झगड़े को सुलझाने के लिए एक और प्रयास करना चाहिए। यह मामला इतना संगीन है, इतना महत्वपूर्ण है कि इसका फैसला एक या दूसरे दल की प्रतिष्ठा को ध्यान में रखते हुए नहीं किया जा सकता। जहां राष्ट्र के भाग्य का फैसला करने का प्रश्न हो, वहां नेताओं, दलों तथा साम्प्रदायों की शान का कोई मूल्य नहीं होना चाहिए। वहां तो राष्ट्र के भाग्य को ही सर्वोपरि रखना चाहिए। मैं केवल इस आधार पर ही डा० जयकर के संशोधन का समर्थन नहीं कर रहा हूं कि इससे संविधान सभा सुसंगठित रूप से अपना काम करेगी और कार्यारम्भ के पहले मुस्लिम लीग की प्रतिक्रिया को जान लेगी, बल्कि

इसीलिए भी कि हमें यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि अगर हम जल्दबाजी से काम लेंगे तो हमारे भविष्य का क्या फैसला होगा। मुझे नहीं मालूम कि कांग्रेस के दिमाग में, जिसका इस सभा में प्रबल बहुमत है, क्या नक्शा है। मुझमें यह दैवी शक्ति नहीं है कि इस बात को जान जाऊं कि वे क्या सोच रहे हैं? उनकी युक्ति और युद्ध-कौशल क्या है इसे मैं नहीं जानता। परन्तु इस उपस्थित मसले पर एक बाहरी आदमी के रूप में जब मैं अपना दिमाग लगाता हूं तो मुझे तीन ही रास्ते दिखाई देते हैं, जिनसे हम अपने भविष्य का निर्णय कर सकें। एक रास्ता तो यह है कि एक दल दूसरे दल की इच्छा के सामने आत्म-समर्पण कर दे। दूसरा रास्ता यह है कि हम आपस में विचार-विनिमय कर समझौता कर लें और तीसरा रास्ता है कि खुलकर लड़ाई की जाये। सभापति जी, परिषद् के कुछ सदस्यों की ओर से मैं यह भी सुनता आ रहा हूं कि वे युद्ध के लिए तैयार हैं। मैं अवश्य यह स्वीकार करूंगा। मैं इस कल्पना से ही कांप उठता हूं कि इस देश का कोई भी व्यक्ति यह सोचे कि युद्ध द्वारा वह देश की राजनैतिक समस्या हल कर लेगा। मुझे नहीं मालूम कि देश के कितने लोग इस विचार का समर्थन करते हैं। बहुत से लोग इस अवचार का समर्थन करते हैं और मेरी समझ में बहुत से लोग तो इसलिए समर्थन करते हैं कि उनका विश्वास है कि उनका यह युद्ध अंग्रेजों के साथ होगा। अगर यह युद्ध जो लोगों के दिमाग में है, परिमित दायरे में होता और सिर्फ अंग्रेजों तक ही सीमित रहता तो मुझे इस कौशल पर, इस युक्ति पर कोई आपत्ति न होती। परन्तु क्या आप समझते हैं कि यह युद्ध सिर्फ अंग्रेजों के विरूद्ध ही होगा? मुझे यह कहने में जरा भी दुविधा नहीं है और सभा के सामने मैं साफ शब्दों में कहना चाहता हूं कि अगर देश में युद्ध हुआ और उसका संबंध हमारी आज की समस्या से रहा तो फिर यह युद्ध अंग्रेजों के साथ नहीं होगा। यह मुसलमानों के साथ होगा। बल्कि यह उससे भी बुरा होगा और यह युद्ध होगा मुसलमानों और अंग्रेजों की सम्मिलित शक्ति के साथ। मैं नहीं समझ पाता कि यह सम्भावित युद्ध किस तरह उससे भिन्न होगा, जिसकी विभीषिका की कल्पना मैंने की है। महामना ब्रुक के उस प्रसिद्ध भाषण का एक अंश मैं सभा को पढ़कर सुना देना चाहता हूं जो उन्होंने अमेरिका से मेल-मिलाप करने के संबंध में पार्लियामेंट में दिया था। मेरा विश्वास है कि शायद सभा के उद्देश्य पर इसका कुछ असर पड़ सकता है। आप जानते हैं कि अंग्रेज अमेरिका के विद्रोही उपनिवेशों को जीत कर उनकी मर्जी के खिलाफ उन्हें अपने आधीन रखने की कोशिश कर रहे थे। उन उपनिवेशों को जीतने का विचार परित्याग करने के संबंध में ब्रूक ने कहा था:—

> "सभापति महोदय, प्रथम तो मुझे यह कहने की अनुमति दें कि केवल बल-प्रयोग कभी स्थायी नहीं होता। उससे कुछ देर के लिए किसी को दबाया जा सकता है

पर उससे पुनः दबाने की आवश्यकता दूर नहीं की जा सकती। उस जाति पर कभी शासन नहीं किया जा सकता जिसे हमेशा ही जीतने की जरूरत पड़े।"

"मेरी दूसरी आपत्ति यह है कि बल-प्रयोग का परिणाम अनिश्चित होता है। बल-प्रयोग से सदा आतंक ही नहीं पैदा होता। अगर हम सदा शस्त्र ही उठाये रहें तो फिर यह विजय कैसी? बलप्रयोग में अगर आप असफल होते हैं तो फिर कोई साधन आपके पास नहीं रह जाता। अगर आप मीठे तरीके से सुलह करने में असफल होते हैं बलप्रयोग का साधन आपके हाथ में रहता है परन्तु बल-प्रयोग में अगर आप हारे तो फिर समझौते की कोई और गुंजायश नहीं रहती। दया दिखाने से अधिकार और शक्ति तो कभी-कभी प्राप्त हो जाते हैं पर बल-प्रयोग में पराजित होने पर आप अधिकार की भीख नहीं मांग सकते।"

"बल-प्रयोग के विरूद्ध मेरी और आपत्ति यह है कि इसके द्वारा लक्ष्य प्राप्ति के प्रयास में आप अपने लक्ष्य को ही क्षीण और दुर्बल बना देते हैं। बल-प्रयोग में विजयी होने पर आपको क्या मिलता है? जो भी आप पाते हैं, वह युद्ध के सिलसिले में प्रायः मूल्यहीन, जर्जरित और बर्बाद हो चुका रहता है। निश्चय ही आप इसे पाने के लिए युद्ध नहीं करते हैं।"

यह मेरी गम्भीर चेतावनी है और उपेक्षा करना खतरनाक होगा। अगर किसी के दिमाग में यह ख्याल हो कि बल-प्रयोग द्वारा, युद्ध द्वारा, क्योंकि बल-प्रयोग ही युद्ध है..... हिन्दू-मुस्लिम समस्या का समाधान किया जाये ताकि मुसलमानों को दबाकर उनसे वह संविधान मनवा लिया जाय तो उनकी रज़ामन्दी से नहीं बना है, तो इससे देश ऐसी स्थिति में फंस जायेगा कि उसे मुसलमानों को जीतने में सदा लगा रहना पड़ेगा। एक बार जीतने से ही जीत का काम समाप्त न हो जायेगा। मैं आपका और अधिक समय नहीं लेना चाहता। पुंनः एक बार बर्क के कथन का हवाला देकर मैं अपना भाषण समाप्त कर देता हूं। बर्क ने कहीं पर कहा है कि "शक्ति देना तो आसान है पर बुद्धि देना कठिन है।" आइये, हम अपने आचरण से यह प्रमाणित कर दें कि अगर इस सभा ने सर्वोच्च सत्ता जबर्दस्ती अन्यायपूर्वक ले ली है तो वह उस सत्ता का प्रयोग बुद्धिमानी से करेगी। यही

एक मात्र रास्ता है जिसके जरिये हम देश के सभी वर्गों को साथ लेकर चल सकते हैं। और कोई मार्ग नहीं है जिस पर चलकर हम एकता पा सकें। इस बात के संबंध में हम लोगों को कोई सन्देह नहीं होना चाहिए।

11

संविधान के मसौदे के सम्बन्ध में*

अध्यक्ष महोदय, मसविदा समिति द्वारा तय किए हुए विधान के मसौदे को मैं सभा के समक्ष प्रस्तुत करता हूं और प्रस्ताव करता हूं कि इस पर विचार किया जाये।

ता॰ 29 अगस्त, 1947 को संविधान सभा ने एक संकल्प पास करके, मसौदा समिति को नियुक्त किया था।

संविधान सभा के निर्णयानुसार मसविदा समिति को यह भार दिया गया था कि वह संविधान सभा द्वारा नियुक्त विभिन्न समितियों— जैसे कि संघ-शासन समिति संघ-विधान समिति, प्रांतीय विधान-समिति तथा मौलिक अधिकारों, अल्पसंख्यकों एवं कबायली क्षेत्रों के लिए नियुक्त परामर्शदात्री समिति इत्यादि द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट के आधार पर एक विधान तैयार करें।

संविधान सभा ने उक्त समिति को यह भी आदेश दिया था कि कतिपय विषयों में वह भारत सरकार के 1935 के एक्ट में दिये हुए प्रावधानों का ही अनुगमन करे। मुझे आशा है कि सिवाय उन बातों के जिनका हवाला मैंने 21 फरवरी सन् 1948 ई॰ के अपने पत्र में दिया था जिसमें मैंने बताया था कि मसविदा समिति ने कहां मार्गान्तर ग्रहण किया है और उसने क्या विकल्प सुझाये हैं, आप यही पायेंगे कि मसविदा समिति ने आपके सभी आदेशों का पालन सच्चाई से किया है।

संविधान का यह मसविदा जो कि मसविदा समिति के विचार-विमर्श के बाद तय हुआ है, एक महान प्रलेख है। इसमें 315 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियां हैं। यह मानना होगा कि किसी भी देश का संविधान इतना बृहत नहीं है जितना कि इस संविधान का मसविदा है। जिन्होंने इसको पूरी तरह से नहीं पढ़ा है उनके लिए इसके प्रमुख विशेषताओं को समझना कठिन है।

आज आठ महीनों से संविधान का प्रस्तुत मसविदा देश के सामने है। इस दीर्घ काल

*संविधान सभा वाद-विवाद, खण्ड 7, 4 नवम्बर, 1948, पृष्ठ 59—84

में, मित्र आलोचक एवं विरोधी, सभी को इसमें दिये हुए प्रावधानों के प्रति अपने विचार व्यक्त करने के लिए काफी बल्कि काफी से भी ज्यादा समय मिला है। मैं निर्भीकतापूर्वक कह सकता हूं कि बहुतों की आलोचना का कारण यह है कि वे अनुच्छेदों को पर्याप्त रूप से नहीं समझ पाये हैं और उनके अर्थ के संबंध में उनको गलत फहमी हुई है। जो भी हो, इसके आलोचनायें हुई हैं और उनका उत्तर देना ही होगा।

उक्त दोनों कारणों से यह आवश्यक है कि इस पर विचार करने का प्रस्ताव रखते हुए मैं संविधान की मुख्य विशेषताओं की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करूं और इनके विरूद्ध की गई आलोचनाओं का उत्तर दूं।

**** **** ****

अगर आप इस संविधान की एक प्रति विधान संबंधी कानून के किसी विद्यार्थी को दें तो अवश्य ही वह दो बातें पूछेगा। पहली बात यह है कि इस संविधान में किस प्रकार की सरकार (Government) की कल्पना की गई है और दूसरी बात वह यह पूछेगा कि संविधान का स्वरूप क्या है? क्योंकि यही दो गम्भीर विषय हैं जिनके संबंध में प्रत्येक संविधान को सोचना और निर्णय देना पड़ता है। अब मैं पहले प्रश्न को लेता हूं।

इस मसविदे में भारतीय संघ के प्रमुख के रूप में एक अधिकारी रखा गया है जो भारतीय संघ का राष्ट्रपति (President) कहलाएगा। इस अधिकारी की इस उपाधि से अमेरिका के प्रेसीडेन्ट का स्मरण हो आता है। किन्तु इस नाम-सादृश्य के अतिरिक्त, अमरीका की सरकार के स्वरूप में तथा इस मसविदे में प्रस्तावित सरकार के स्वरूप में और कोई समानता नहीं है।

अमेरिका में सरकार की राष्ट्रपति प्रणाली है और इसे राष्ट्रपति प्रणाली की शासन पद्धति कहा जाता है। इस मसविदे में जो शासन पद्धति प्रस्तावित की गई है वह है संसदीय शासन पद्धति। शासन संबंधी इन दोनों प्रणालियों में मौलिक अन्तर है। अमेरिका की राष्ट्रपति प्रणाली में राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान है। शासन का समस्त अधिकार उसको प्राप्त है। इस मसविदे के अनुसार हमारे राष्ट्रपति का वही स्थान है जो अंग्रेजी संविधान के अन्तर्गत सम्राट का है। वह राज्य का प्रधान है, किन्तु कार्यपालिका का प्रधान नहीं है। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, पर राष्ट्र पर शासन नहीं करता। वह राष्ट्र का प्रतीक है, शासन के मामले में उसका स्थान यही है कि वह अपनी मुहर की छाप से राष्ट्र के निर्णयों को ज्ञापित करता है। अमेरिकन संविधान के अन्तर्गत प्रेसीडेंट के अधीन कई सेक्रेटरी होते हैं जो भिन्न-भिन्न विभागों के अधिकारी होते हैं इसी प्रकार भारतीय संघ के प्रेसीडेंट के अधीन शासन के विभिन्न विभागों के अधिकारी मंत्री होंगे। यहां भी इन दोनों प्रणालियों में एक मौलिक अन्तर है। अमेरिका के प्रधान के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी

सेक्रेटरी की राय को माने ही। किन्तु भारतीय संघ के प्रेसीडेंट के लिए अपने मंत्रियों की राय मानना साधारणतः आवश्यक होगा। वह उनको राय के प्रतिकूल कुछ नहीं कर सकता और न बिना उनकी राय लिए ही कुछ कर सकता है। अमेरिका का प्रेसीडेंट किसी भी क्षण किसी भी सेक्रेटरी को उस पद से हटा सकता है। किन्तु भारतीय संघ के प्रेसीडेंट को ऐसा करने का अधिकार तब तक नहीं है जब तक कि पार्लियामेंट में मंत्रियों को बहुमत प्राप्त है।

अमेरिका की राष्ट्रपति प्रणाली इस आधार पर निर्मित है कि वहां कार्यपालिका तथा विधान मंडल में पार्थक्य रखा गया है, जिससे कि प्रेसीडेंट और उसके सेक्रेटरी कांग्रेस के सदस्य नहीं हो सकते। अपना मसविदा इस पार्थक्य के सिद्धान्त को नहीं स्वीकार करता है। भारतीय संघ के मिनिस्टर, पार्लियामेंट अर्थात् विधान मंडल के सदस्य हैं। यहां तो केवल विधान मंडल के सदस्य ही मन्त्री हो सकते हैं। यहां मंत्रियों को वही अधिकार प्राप्त हैं जो कि विधान मंडल के अन्य सदस्यों को प्राप्त हैं, अर्थात् वे विधान मंडल की सभा में बैठ सकते हैं, वहां के वाद-विवाद में भाग ले सकते हैं और कार्यवाही के संबंध में अपना मत दे सकते हैं। अवश्य ही वे दोनों शासन पद्धतियां गणतंत्रीय हैं और इन दोनों में किसको चुना जाये यह तय करना आसान नहीं है। गणतंत्रीय कार्यपालिका के लिए यह आवश्यक है कि उसमें ये दो बातें आवश्यक हों:—

(1) उसे स्थिर होना चाहिए, और (2) उसका दायित्वपूर्ण होना नितान्त आवश्यक है।

दुर्भाग्य से अब तक ऐसी कोई प्रणाली नहीं निकाली जा सकी है जिसमें स्थिरता तथा दायित्वपूर्णता, ये दोनों ही गुण समान रूप में पाये जा सकते हों। ऐसी प्रणाली तो आप पा सकते हैं जिसमें स्थिरता अधिक हो पर दायित्व कुछ कम हो या ऐसी प्रणाली जिसमें दायित्व कुछ अधिक मात्रा में हों पर स्थिरता कम हो। अमेरिका की तथा स्विट्जरलैंड की प्रणालियों में स्थिरता अधिक है, पर दायित्व कम। इसके प्रतिकूल ब्रिटिश प्रणाली में आप दायित्व अधिक पायेंगे, पर स्थिरता कम। इसका कारण स्पष्ट है। अमेरिका की कार्यपालिका संसदीय पद्धति की नहीं है, इसलिए उसके अस्तित्व के लिए वहां की कांग्रेस (विधान मण्डल) का बहुमत अपेक्षित नहीं है। इसके प्रतिकूल ब्रिटेन की कार्यपालिका संसदीय पद्धति की है और इसलिए अपने अस्तित्व के लिए वह पार्लियामेंट के बहुमत पर निर्भर करती है। अमेरिकन कांग्रेस अपनी कार्यपालिका को बरखास्त नहीं कर सकती, क्योंकि वह संसदीय पद्धति का नहीं है।

संसदीय सरकार को तो उसी वक्त इस्तीफा दे देना होगा जब पार्लियामेंट के बहुमत का उस पर विश्वास न रह जाये। दायित्व के दृष्टिकोण से विधान मंडल के प्रति

पार्लियामेण्टरी अधिशासी कम दायित्वपूर्ण होता है, क्योंकि अपने अस्तित्व के लिए वह विधान मण्डल पर निर्भर नहीं रहता। इसके प्रतिकूल संसदीय कार्यपालिका विधान मंडल के प्रति अधिक दायित्वपूर्ण होती है क्योंकि उसके अस्तित्व के लिए पार्लियामेंट का बहुमत अपेक्षित है। संसदीय और गैर-संसदीय पद्धतियों में यह अन्तर है कि पहली दूसरी से अधिक दायित्वपूर्ण होती है। इसके अतिरिक्त उनके दायित्व का माप-जोख कब-कब किया जाये और उसे कौन करे; इस सम्बन्ध में भी दोनों में अन्तर है। गैर-संसदीय पद्धति में जैसी कि अमेरिका में है, अधिशासी वर्ग के दायित्व का माप-जोख एक नियमित काल के बाद हुआ करता है। वहां दो साल में एक बार निर्वाचक समुदाय कार्यपालिका के दायित्व के संबंध में निर्णय करता है। उसके प्रतिकूल इंगलैंड में जहां संसदीय पद्धति चलती है, नियमित काल पर और प्रत्येक दिन दोनों तरह - कार्यपालिका के दायित्व के संबंध में निर्णय किया जाता है। दैनिक निर्णय तो पार्लियामेंट के सदस्य, प्रश्न, प्रस्ताव, अविश्वास-प्रस्ताव, स्थगन प्रस्ताव तथा अभिभाषणों पर (Addresses) पर वाद-विवाद द्वारा करते हैं, और नियमित काल पर जो निर्णय होता है वह निर्वाचक चुनाव के समय करते हैं जो कि हर पांचवें साल या उसके पूर्व भी हो सकता है। अमेरिकन शासन पद्धति में कार्यपालिका के दायित्व की दैनिक छानबीन नहीं होती। लोगों का अनुभव है कि भारत जैसे देश में अधिशासी वर्ग के दायित्व की दैनिक छानबीन बहुत ही आवश्यक है और एक नियत कालिक छानबीन से वह कहीं अधिक प्रभावी है। प्रस्तुत संविधान में स्थिरता से दायित्व को अधिक आवश्यक समझा गया है और इसलिए इसमें संसदीय पद्धति की सिफारिश की गयी है।

यहां तक तो मैंने यह बतलाया कि प्रस्तुत संविधान में कौनसी शासन पद्धति रखी गई है। अब मैं दूसरे प्रश्न की ओर जाता हूं, अर्थात् संविधान के स्वरूप की ओर।

अब तक इतिहास में संविधान के दो ही प्रमुख स्वरूप आये हैं। एक है एकात्मक (Unitary) और दूसरा संघात्मक (Federal) एकात्मक संविधान में दो मुख्य विशेषताएं होती हैं। एक तो यह कि केन्द्रीय शासन नीति की उसमें प्रधानता रहती है और दूसरी विशेषता उसकी यह होती है कि उसमें उपसत्तात्मक राज्यों का कोई अस्तित्व नहीं होता, अर्थात् उसमें सत्तात्मक उपराज्य नहीं होते। इसके प्रतिकूल संघात्मक विधान की विशेषता यह है कि केन्द्र के साथ-साथ उसमें सत्तात्मक उपराज्य भी होते हैं और दोनों को ही अपने-अपने क्षेत्रों में जो उनको सौंपे गये हैं, पूर्णसत्ता प्राप्त रहती है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि संघात्मक संविधान का अर्थ है द्वै-राज्य की स्थापना। अपना प्रस्तुत विधान इस अर्थ में संघात्मक संविधान है कि यह ऐसी राज्य व्यवस्था स्थापित करता है जिसे हम द्विमुखी राज्य-व्यवस्था कह सकते हैं। प्रस्तुत संविधान की द्विमुखी-राज्य-व्यवस्था के अन्दर संघ राज्य है तथा अन्य प्रादेशिक राज्य हैं और इन दोनों को ही प्रभुता प्राप्त है

जिसका प्रयोग ये संविधान द्वारा सौंपे गये अपने अपने विषयों में कर सकते हैं। यह द्विमुखी राज्य-व्यवस्था अमेरिकन संविधान से मिलती-जुलती है। अमेरिका की राज्य-व्यवस्था भी एक द्विमुखी-राज्य-व्यवस्था है जिसमें एक तरफ तो संघ सरकार है और दूसरी तरफ कई राज्य हैं, इसी तरह हमारे संविधान में भी एक केन्द्रीय संघ सरकारी तथा अन्य प्रादेशिक राज्यों की व्यवस्था है। अमेरिकन संविधान के अनुसार, वहां की संघ सरकार, वहां के राज्यों का केवल संघ मात्र नहीं है और न वहां के प्रादेशिक राज्य ही संघ सरकार की महज शासन संबंधी इकाइयां हैं। इसी प्रकार इस संविधान में प्रस्तावित संघ सरकार न केवल राज्यों का संघ मात्र है और न विभिन्न प्रादेशिक राज्य ही संघ सरकार की केवल शासनात्मक इकाइयां हैं। भारतीय और अमेरिकन संविधान की समरूपता इन्हीं बातों तक सीमित है। पर इन दोनों संविधानों में जो अन्तर है वह इनकी समानताओं से कहीं अधिक मौलिक और सुस्पष्ट है।

अमेरिकन संघ तथा भारतीय संघ में जो विभिन्नता है वह मुख्यता दो बातों में है। अमेरिका में द्विमुखी-राज्य व्यवस्था के साथ साथ दो प्रकार की नागरिकता भी है। एक तो अमेरिकन नागरिकता है और दूसरी राज्यों की भी अपनी-अपनी नागरिकता है। अवश्य ही उस दो प्रकार की नागरिकता में जो कठिनाइयां हैं उनको अमेरिकन विधान के 14वें संशोधन द्वारा बहुत कुछ दूर कर दिया गया है। इस संशोधन द्वारा राज्यों पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया है कि वे अमेरिकन संघ के नागरिकों के अधिकार, विशेषाधिकार या विमुक्तियों का अपहरण नहीं कर सकते । पर साथ ही यह भी है, जैसा कि मि० विलियम एण्डरसन ने बताया है, कि कतिपय राजनीतिक विषयों में, जिसमें मतदान का तथा सरकारी ओहदों के धारण करने का अधिकार भी शामिल है, रियासतें अपने नागरिकों के पक्ष में भेदभाव की नीति अपना सकती हैं या अपनाती हैं। बहुत से मामलों में तो यह पक्षपात बहुत दूर तक बरता जाता है। उदाहरणार्थ, किसी रियासत में या स्थानीय सरकार ने नियुक्ति पाने के लिए, बहुत से स्थानों में, यह जरूरी कर दिया गया है कि उम्मीदवार वहां का ही नागरिक या निवासी हो। इसी तरह कानून और चिकित्सा संबंधी सार्वजनिक पेशों का लाइसेंस पाने के लिए भी रियासत की नागरिकता या निवास प्रायः आवश्यक हैं। इसकी प्रकार व्यवसाय में भी - जैसे कि मदिरा बिक्री का काम या बांड या स्टाक के बिक्री का काम, जहां सरकारी नियमों की कठोरता जरूरी होती है, यही प्रतिबंध लागू है।

प्रत्येक रियासत को उन मामलों में जो उसको सौंपे गये हैं, अपने नागरिकों को विशेष सुविधा प्रदान करने के लिये भी कतिपय अधिकार प्राप्त हैं। इस प्रकार शिकार करना और मछली मारना ये दोनों ही बातें एक तरह रियासतों के अधिकार में हैं। वहां रियासतों में यह प्रचलित है कि वे शिकार खेलने और मछली मारने के लाइसेंस के लिए जो फीस अपने नागरिकों से लेते हैं उससे कहीं ज्यादा बाहर वालों से लेते हैं। इसी प्रकार रियासतें

अपने कालेज और विश्वविद्यालयों के शुल्क भी बाहर वालों से ज्यादा लेती हैं और अपने अस्पतालों या आश्रम स्थानों में भी केवल अपने नागरिकों को ही भरती करती है। हां, आकस्मिक या संकट कालीन स्थिति में वह बाहर वालों को भी वहां भरती कर लेती हैं।

सारांश यह है कि कई ऐसे अधिकार हैं जो वहां की रियासतें केवल अपने नागरिकों या निवासियों को ही देता हैं और जिन्हें वह बाहर वालों को देने से कानूनन इन्कार कर सकती हैं और करती हैं, अथवा उनके अधिकारों को वे बाहर वालों को ज्यादा कठोर शर्तों पर ही देती हैं। ये सुविधाएं जो रियासत के नागरिकों को प्राप्त होती हैं, रियासत की नागरिकता के विशेषाधिकार हैं। इन सब बातों को देखते हुए कहना होगा कि वहां रियासत के नागरिकों के एवं बाहर वालों के अधिकारों में बड़ा अन्तर है। यात्री और अस्थायी रवासियों को वहां सर्वत्र कुछ न कुछ विशेष असुविधाओं का शिकार होना ही पड़ता है।

इसके प्रतिकूल प्रस्तुत विधान में द्विमुखी-राज्य व्यवस्था तो रखी गई है। पर नागरिकता एक ही है। इसमें समस्त भारत के लिये एक ही नागरिकता की व्यवस्था है, और वह है भारतीय नागरिकता। प्रादेशिक राज्यों की पृथक नागरिकता नहीं है। प्रत्येक भारतीय को चाहे वह किसी भी राज्य का हो, नागरिकता का समान अधिकार प्राप्त है।

प्रस्तुत भारतीय विधान में जो द्विमुखी-राज्य व्यवस्था रखी गई है वह अमरीका की द्विमुखी व्यवस्था में से एक और तरह से भी भिन्न है। अमेरिका की संघ सरकार तथा रियासतों के विधान आपस में एक ढीली गांठ से बंधे हुए हैं। इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध को बताते हुए ब्राइस से कहा है:

"अमेरिका की केन्द्रीय या राष्ट्रीय सरकार तथा वहां की रियासती सरकारों की तुलना में हम एक विशाल इमारत तथा अन्य छोटी-छोटी अनेक इमारतों से कर सकते हैं जो बनी तो हैं एक ही आधार भूमि पर ही, लेकिन हैं भिन्न-भिन्न।"

अमेरिका में केन्द्रीय सरकार और रियासती सरकारों में क्या विभिन्नता है, इसका आभास निम्नलिखित बातों से मिलेगा।

(1) इस शर्त के अधीन रहते हुए कि वे गणतंत्रीय सरकार की स्थापना करेंगी, अमेरिका की प्रत्येक रियासत को अपना विधान बनाने की स्वतंत्रता है।

(2) अपना विधान बदलने का अधिकार वहां की रियासतों की जनता के हाथ में है सदा के लिए है और इस मामले में राष्ट्रीय सरकार का उन पर कोई अंकुश नहीं है। यहां मैं पुनः मिस्टर ब्राइस के शब्दों को उद्धृत करूंगा।

"अमेरिका की प्रत्येक रियासत का अस्तित्व, उसके विधान की बदौलत एक

कामनवेल्थ के रूप में है और रियासत के कानून, प्रबंध तथा न्याय सम्बन्धी सभी प्राधिकारी रियासती विधान की प्रजा हैं और उसी विधान के अधीन हैं।"

अपने भारतीय विधान में यह बात नहीं है। यहां तो किसी भी प्रादेशिक राज्य को (भाग 1 में उल्लिखित राज्यों को तो बिल्कुल ही) अपना विधान बनाने का अधिकार नहीं है। संघ एवं प्रादेशिक राज्यों के विधान का एक ही ढांचा है जिसके अन्दर ही दोनों को काम करना है और वे उसके बाहर नहीं जा सकते।

यहां तक तो मैंने आपका ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया कि अमेरिकन संघ और भारतीय संघ में क्या अन्तर है। किन्तु इसके अतिरिक्त प्रस्तावित भारतीय संघ में कुछ ऐसी भी विशेषताएं हैं जो अमेरिकन संघ में ही नहीं बल्कि दुनिया के अन्य किसी भी संघ राज्य में नहीं है। अमेरिकन संघ का तथा अन्य सभी संघ राज्यों का विधान एक ऐसे कठोर संघात्मक ढांचे में रखा गया है कि वे अपने स्वरूप को कभी बदल नहीं सकते चाहे कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो। किसी भी हालत में इनकी राज्य व्यवस्था, एकात्मक या केन्द्र प्रधान नहीं हो सकती। इसके प्रतिकूल हमारा विधान समय, परिस्थिति एवं आवश्यकता के अनुसार एकात्मक या संघात्मक दोनों ही प्रकार का हो जा सकता है। यह इस प्रकार का है कि साधारण समय में राज्य व्यवस्था संघात्मक पद्धति पर चलाई जा सकती है। किन्तु युद्ध काल में, प्रस्तुत विधान इस प्रकार का बना है कि, राज्य व्यवस्था केन्द्रात्मक पद्धति पर चलाई जा सकती है। ज्योंही प्रधान उक्त आशय की घोषणा करेगा, जिसका कि उसे प्रस्तुत विधान के अनुच्छेद 275* के अनुसार अधिकार है; हमारी समस्त राज्य-व्यवस्था संघात्मक से बदलकर तत्क्षण केन्द्रात्मक बन जायेगी। घोषणा द्वारा भारतीय संघ, अगर वह चाहे तो ये अधिकार स्वयं अपने हाथ में ले सकता है। (1) किसी भी विषय पर कानून बनाने का अधिकार चाहे वह विषय रियासती सूची में ही हो। (2) प्रादेशिक राज्यों को, इस बात के सम्बन्ध में आदेश जारी करने का अधिकार, कि वे उन मामलों में जो उनके सुपुर्द हैं, अपनी अधिशासी शक्ति (Executive power) का प्रयोग किस प्रकार करें। (3) किसी प्राधिकारी को किसी भी प्रयोजन के लिये शक्ति प्रदान करने का अधिकार तथा (4) विधान में रखी हुई अर्थ सम्बन्धी व्यवस्थाओं के स्थगन का अधिकार।

संघात्मक राज्य व्यवस्था को बदलकर केन्द्रात्मक बनाने का अधिकार किसी भी संघ राज्य को नहीं है। हमारे विधान के अन्दर प्रस्तावित संघ राज्य में तथा अन्य संघ राज्यों में जो विभिन्नता है उसके सम्बन्ध में एक बात तो यह हुई।

---

*अनुच्छेद 352

किन्तु भारतीय संघ में तथा अन्य संघ राज्यों में विभिन्नता केवल इसी एक बात की नहीं है। संघ मूलक राज्य पद्धति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि, वह अगर बिल्कुल जीर्ण-शीर्ण नहीं तो एक दुर्बल व्यवस्था अवश्य है। कहा जाता है कि उसमें दो कमजोरियां हैं। एक कमजोरी तो यह है कि उसमें अपरिवर्तनशीलता है तथा दूसरे वैधावैधविचार बाहुल्यता है। यह निर्विवाद है कि संघ मूलक राज्य-व्यवस्था में ये दोनों त्रुटियां स्वाभाविक हैं। संघात्मक विधान स्वाभाविक है कि लिपिबद्ध विधान होगा और लिपिबद्ध विधान की अपरिवर्तनशीलता निश्चित है। संघात्मक विधान में सत्ता संघ सरकार और रियासतों के बीच बंट जाती है और इस बंटवारे का सम्पादन स्वयं विधान के कानून द्वारा होता है। इस सत्ता विभाजन के फलस्वरूप दो बातें निश्चित हैं। एक तो यह कि अगर संघ सरकार उन मामलों में हस्तक्षेप करे जिनके संबंध में सत्ता रियासतों को प्राप्त है अथवा कोई रियासत उन मामलों में हस्तक्षेप करे जिनके सम्बन्ध में सत्ता संघ सरकार को प्राप्त है तो यह विधान का उल्लंघन करना है और दूसरी बात यह है कि ऐसे विधानोल्लंघन के सम्बन्ध में न्याय संबंधी कार्रवाई की जा सकती है और इसके संबंध में निर्णय केवल न्याय विभाग ही दे सकता है। संघ व्यवस्था का जब यह स्वरूप है तो संघात्मक विधान वैधावैध विचार बाहुल्यता के दोषारोप से नहीं बच सकता। संघात्मक विधान की ये त्रुटियां अमेरिकन विधान में सुस्पष्ट हैं।

जिन देशों ने बाद में चलकर संघात्मक पद्धति अपनाई है उन्होंने संघात्मक प्रणाली की अन्तर्वर्ती अपरिवर्तनशीलता एवं वैधावैध विचार बाहुल्यता के फलस्वरूप पैदा होने वाले दोषों को कम करने का प्रयास किया है। उदाहरण के रूप में आस्ट्रेलिया के विधान का यहां उल्लेख किया जा सकता हैं अपनी संघ व्यवस्था की अपरिवर्तनशीलता को कम करने के लिए आस्ट्रेलिया के विधान ने इन उपायों का प्रयोग किया है:

(1) संविधान ने कामनवेल्थ की पार्लियामेंट को समवर्ती विधि निर्माण की व्यापक शक्ति प्रदान की है और पृथक विधि निर्माण की अल्पशक्ति प्रदान की है; और

(2) संविधान के कतिपय अनुच्छेदों को अल्पकालिक अवधि का बना दिया है और वे तभी तक प्रभावी रहेंगे जब तक कि पार्लियामेंट अन्यथा व्यवस्था न करें।

यह स्पष्ट है कि आस्ट्रेलिया विधान के अनुसार वहां की पार्लियामेंट बहुत से काम कर सकती है जो अमेरिकन कांग्रेस की क्षमता से बाहर की बात है और जिन्हें करने के लिए अमेरिकी सरकार को सुप्रीम कोर्ट का ही सहारा लेना होगा और वहां भी उसे सफलता तभी मिल सकती है जब कि वह अपनी योग्यता, बुद्धि-कौशल से ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन कर सके जो उस मामले में उसके अधिकार प्रयोग का औचित्य प्रमाणित करता हो।

संघात्मक व्यवस्था की अपरिवर्तनशीलता एवं वैधावैधविचार बाहुल्यता की कठिनाई को कम करने के लिये प्रस्तुत विधान ने आस्ट्रेलिया प्रणाली को अपनाया है और इतनी दूर तक जहां तक स्वयं आस्ट्रेलिया भी नहीं गया है। आस्ट्रेलिया विधान की तरह अपने विधान में भी उन विषयों की सूची बड़ी लम्बी है जिनके सम्बन्ध में विधि निर्माण का समवर्ती अधिकार है। आस्ट्रेलिया के विधान में ऐसे 39 समवर्ती विषय हैं और अपने संविधान में इनकी संख्या 37 है। आस्ट्रेलिया के संविधान का अनुगमन करते हुए हमने अपने संविधान में भी 6 ऐसे अनुच्छेद रखे हैं जिनमें दी हुई व्यवस्थाएं अल्पकालिक अवधि की हैं जिनके स्थान पर किसी भी समय विधान मण्डल अवसरानुकूल अन्य व्यवस्थाएं रख सकता है। प्रस्तुत संविधान आस्ट्रेलियाई विधान से भी जिस बात में आगे बढ़ गया है, वह यह है कि अपने विधान मण्डल को कई विषयों में विधि निर्माण का एक मात्र अधिकार प्राप्त है। जब कि आस्ट्रेलियाई पार्लियामेंट का विधि निर्माण का एकमात्र अधिकार केवल तीन विषयों तक की समिति है, भारतीय विधान मण्डल को, प्रस्तुत विधान के अनुसार ऐसा अधिकार 91 विषयों के सम्बन्ध में प्राप्त है। इस प्रकार प्रस्तुत विधान ने अपनी संघात्मक राज्य व्यवस्था को, जो स्वभावतः बेलोच मानी जाती है, अधिक से अधिक लचीली बना दिया है। यही कहना काफी नहीं है कि प्रस्तुत विधान ने आस्ट्रेलियाई विधान का अनुगमन किया है या यह कि बड़े व्यापक पैमाने पर उसका अनुगमन किया है। इसमें जो विशेष बात है वह यह है कि संघात्मक व्यवस्था की अन्तर्वर्ती त्रुटि-अपरिवर्तनशीलता और वैधावैधविचार बाहुल्यता को दूर करने के लिए इसने नवीन उपाय निकाले हैं और यह उसकी अपनी विशेषता है जो अन्यत्र कहीं नहीं पाई जा सकती।

पहला उपाय यह है कि विधान ने विधान मण्डल को यह अधिकार प्रदान किया है कि वह साधारण समय में एकमात्र प्रान्तीय विषयों के सम्बन्ध में विधि निर्माण कर सकता है। मेरा संकेत हैं अपने संविधान के अनुच्छेद 226* 227** तथा 229@ की ओर। अनुच्छेद 226 के अनुसार किसी विषय के संबंध में यद्यपि वह "राज्य सूची" में है, संघीय विधान मण्डल विधि निर्माण कर सकती है जब कि वह विषय केवल प्रान्तीय महत्व का न रह कर राष्ट्रीय महत्व का हो जाये। पर इस सम्बन्ध में शर्त यह है कि संघीय विधान मण्डल ऐसे विषय के सम्बन्ध में विधि निर्माण तभी कर सकता है जब कि उच्च सदन दो तिहाई बहुमत से इसके पक्ष में प्रस्ताव पास कर दे। अनुच्छेद 227 में राष्ट्रीय

---

*अनुच्छेद 249
**अनुच्छेद 250
@अनुच्छेद 252

संकट की स्थिति के लिए संघीय विधान मण्डल को इसी प्रकार का अधिकार दिया गया है। अनुच्छेद 229 के अनुसार यदि प्रांत इस बात से सहमत हों तो यही अधिकार संघीय विधान मण्डल को प्राप्त है। यह अंतिम प्रावधान आस्ट्रेलियन विधान में भी अवश्य है पर ऊपर वाले दोनों प्रावधान भारतीय विधान के मसविदे की अपनी मुख्य विशेषता है।

संघात्मक विधान की अपरिवर्तनशीलता और उसके वैधावैध विचार बाहुल्यता को देर करने का दूसरा उपाय जो इस विधान में अपनाया गया है, वह यह है कि विधान में सुविधापूर्वक संशोधन करने के प्रावधान इसमें रखे गये हैं। संशोधन सम्बन्धी प्रावधान विधान के अनुच्छेदों को दो विभिन्न भागों में बांट देते हैं। पहले भाग में वे अनुच्छेद आते हैं जिनका सम्बन्ध, विधि निर्माण सम्बन्धी शक्तियों का केन्द्र और राज्यों के बीच बंटवारा, दूसरे में संघीय विधान मण्डल में राज्यों के प्रतिनिधान तथा तीसरे में न्यायालयों के अधिकारों से हैं। दूसरे सभी अनुच्छेद अलग भाग में आते हैं। विधान का एक वृहत अंश, दूसरे भाग में आने वाले अनुच्छेदों के अन्तर्गत आ जाता है और संघीय विधान मण्डल द्वारा दोहरे बहुमत से उसमें संशोधन किया जा सकता है। अर्थात् प्रत्येक सभा के उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से तथा प्रत्येक सभा की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत से उसमें संशोधन किया जा सकता है। इन अनुच्छेदों में किये गये संशोधनों के लिए राज्यों का अनुमोदन अपेक्षित नहीं है। जो अनुच्छेद पहले भाग में आते हैं केवल उन्हीं से सम्बन्ध रखने वाले संशोधनों के लिए संरक्षण के रूप में राज्यों का अनुमोदन आवश्यक रखा गया है।

इसलिए निश्शंक होकर यह कहा जा सकता है कि भारतीय संघ को अपरिवर्तनशीलता और वैधावैध विचार बाहुल्यता की त्रुटियों से कोई कठिनाई न होगी। इसकी मुख्य विशेषता यही है कि यहां की संघात्मक व्यवस्था लचीली होगी।

प्रस्तावित भारतीय संघ की एक और विशेषता है जिसके कारण यह और संघ राज्यों से भिन्न है। संघात्मक राज्य का आधार है द्विमुखी राज्य-व्यवस्था जिनके बीच विधि-निर्माण, शासन प्रबन्ध एवं न्याय सम्बन्धी समस्त अधिकार बंटे रहते हैं। इस अधिकार-विभाजन का अनिवार्य परिणाम यह होता है कि कानून, शासन एवं न्याय के सम्बन्ध में राज्य में एक रूपता नहीं रहती, विभिन्नता पैदा हो जाती है। यह विभिन्नता किसी हद तक तो उपेक्षणीय होती है। बल्कि किसी हद तक वह अभिनन्दनीय हो सकती है, क्योंकि उसमें स्थानीय आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार शासन-शक्तियों को उपयोगी बनाने का प्रयास किया जाता है। किन्तु जब यह विभिन्नता एक निश्चित सीमा से आगे चली जाती है तो उससे अव्यवस्था पैदा हो सकती है और कई संघ राज्यों में इससे अव्यवस्था उत्पन्न हुई भी है। मान लीजिए, हमारे संघ में 20 प्रादेशिक राज्य हैं। अब आप जरा

कल्पना करें कि हमारे यहां विवाह, तलाक, सम्पत्ति के उत्तराधिकार के परिवार सम्बन्ध, संविदा, शारीरिक या साम्पत्तिक क्षति, अपराध, माप, बिल और चैक, बैंकिंग और व्यवसाय, न्यायप्राप्ति की पद्धति तथा शासन सम्बन्धी पद्धति एवं व्यवस्था के सम्बन्ध में 20 भिन्न-भिन्न कानून हैं। तो यह विभिन्नता कितनी असुविधाजनक है। यह स्थिति न केवल राज्य को ही कमजोर बनाती है बल्कि यह नागरिकों के लिए असह्य हो जाती है। वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचते हैं तो यह पाते हैं कि पहले स्थान पर जो वैध था, वह यहां अवैध है। इस मसविदे ने ऐसे उपाय और प्रणालियों का अवलम्बन किया है जिनसे भारतीय राज्य संघात्मक राज्य होने के साथ-साथ, उन सभी मामलों में, एक रूपता रखेगा जो राज्य की एकता को स्थिर रखने के लिए आवश्यक है। इस प्रयोजन के लिए मसविदे में निम्नलिखित तीन उपाय अपनाये गये हैं:

(1) राज्य भर में एक न्यायव्यवस्था।

(2) मौलिक विधियों तथा व्यवहार एवं दण्ड सम्बन्धी विधियों में एक रूपता और

(3) आवश्यक पदों पर नियुक्ति के लिए समस्त देश में एक लोक सेवा।

संघात्मक राज्य में द्विमुखी राज्य-व्यवस्था का होना निश्चित है और ऐसी द्विमुखी राज्य-व्यवस्था के अन्दर न्याय, विधि संहिता तथा लोक सेवा इन तीनों में द्वित्व का आना, जैसा मैं पहले बता चुका हूं, स्वाभाविक है। अमेरीका में संघीय न्यायालय तथा राज्यों के न्यायालय दोनों एक दूसरे से पृथक और स्वतंत्र हैं। भारतीय संघ में द्विमुखी राज्य व्यवस्था तो है पर उसमें न्याय व्यवस्था दो प्रकार की नहीं होगी, इसमें एक रूपता ही रहेगी। विभिन्न उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय दोनों संयुक्त रूप में एक अखण्ड अविभाज्य न्यायालय हैं जिन्हें संवैधानिक विधि, व्यवहार विधि एवं दण्ड विधि से सम्बन्ध रखने वाले सभी मामलों में सुनवाई का तथा व्यवस्था देने का अधिकार रहेगा। ऐसा इसलिए किया गया है कि न्यायालयों के फैसलों में उनकी व्यवस्थाओं में विभिन्नता न रहे। एकमात्र कैनाडा ही एक ऐसा देश है जहां ऐसी समानान्तर व्यवस्था है। आस्ट्रेलिया की व्यवस्था केवल इसके निकट तक पहुंच पाती है।

इस बात का प्रयास किया गया है कि कानूनों में जो कि नागरिक और सामाजिक जीवन के आधार हैं, कोई विषमता न रहने पाये। व्यवहार एवं दण्ड विधि संहिता को - जैसे कि व्यवहार एवं दण्ड सम्बन्धी विधियों को - जैसे कि दीवानी और फौजदारी के कानून एवं साक्ष्य, सम्पत्ति हस्तान्तरण, विवाह, तलाक तथा उत्तराधिकार सम्बन्धी कानूनों को समवर्ती सूची में रखा है, जिससे कि संघीय प्रणाली को बिना कोई क्षति पहुंचाए, इन सभी बातों में एकरूपता रखी जा सके।

द्विमुखी राज्य-व्यवस्था में, जो संघात्मक शासन पद्धति का अन्तर्वर्ती अंग है, जैसे मैं

कह चुका हूं, राजकीय सेवाओं (Services) में विषमता का होना स्वाभाविक है। सभी संघ राज्यों में संघीय लोक सेवा तथा राज्यों की लोक सेवा, ये दो सेवाएं होती हैं। भारतीय संघ में भी, यद्यपि यहां भी द्विमुखी राज्य-व्यवस्था है, दो ही सेवाए होंगी, पर उसमें एक अपवाद है। यह मानी हुई बात है कि सभी देशों में शासन सम्बन्धी कितने ही ऐसे पद होते हैं जो, शासन स्तर को समुन्नत रखने के विचार से बहुत महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। इतनी विशाल और जटिल शासन व्यवस्था में ऐसे कौन-कौन से ओहदे हैं यह बताना तो आसान नहीं है, पर इसमें कोई शक नहीं कि शासन-स्तर उन राजकीय कर्मचारियों की योग्यता पर ही निर्भर करता है जो इन महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किये जाते हैं। सौभाग्य से हमने अपनी पूर्ववर्ती सरकार से ऐसी शासन पद्धति प्राप्त की है जो समस्त देश में एक सी है और हमें यह मालूम है कि वह महत्वपूर्ण पद कौन-कौन से हैं। प्रस्तुत विधान में इस बात की व्यवस्था है कि प्रादेशिक राज्यों को अपनी लोक सेवा की रचना के अधिकार से वंचित न करते हुए एक अखिल भारतीय लोक सेवा रखी जायेगी जिसमें समस्त देश से समान योग्यता के व्यक्तियों को समान वेतन तालिका पर भरती किया जायेगा और इस लोक सेवा के सदस्य ही समूचे संघ में सभी महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किये जायेंगे।

अपने प्रस्तावित संघ की मुख्य विशेषताएं यही हैं, जिनका मैंने पहले उल्लेख किया है। अब मैं उन आलोचनाओं की ओर आता हूं, जो इसके सम्बन्ध में की गई हैं।

यह कहा गया है कि विधान के इस मसविदे में कोई भी नई बात नहीं है। इसमें से करीब आधा तो भारत सरकार के सन 1935 के एक्ट से ही लेकर ज्यों का त्यों रख दिया गया है । और शेष विभिन्न देशों के विधान से लिया गया है। इसमें अपनी मौलिकता बहुत कम है।

हर कोई यह पूछना चाहेगा कि विश्व के इतिहास के वर्तमान काल में जो विधान बनाया जायेगा, उसमें आखिर कोई क्या नई बात हो सकती है? आज करीब एक शताब्दि से कुछ अधिक समय बीत गया जबकि विश्व का पहला लिपिबद्ध विधान बना था। तब से इसी प्रथम विधान के आधार पर बहुत से देश अपने-अपने विधान निर्माण करते आ रहे हैं विधान के दायरे में क्या-क्या बातें आनी चाहिए, यह बात बहुत पहले ही तय हो चुकी है। इसी प्रकार सारी दुनिया में यह बात भी मान ली जा चुकी है, स्वीकार कर ली गयी है कि विधान की बुनियादी बातें क्या हैं। इन सर्वसम्मत सिद्धान्तों के आधार पर जो भी विधान बनेंगे उनमें मुख्य-मुख्य प्रावधानों के सम्बन्ध में निश्चय ही सादृश्य होगा इस युग में, इतने विलम्ब से जो विधान बनेगा उसमें अगर किसी नई बात का समावेश किया जा सकता है तो वह केवल इसी अभिप्राय से किया जा सकता है कि प्राचीन विधानों की

त्रुटियों को दूर कर उसे देश की वर्तमान आवश्यकता के अनुरूप बनाया जाये। प्रस्तुत विधान अन्य देशों के विधानों की केवल नकल मात्र है। इस आरोप का निश्चय ही यही कारण है कि आलोचकों का विधान विषयक अध्ययन अपर्याप्त है। मैं यह बतला चुका हूं कि अपने संविधान के मसौदे में नई बात क्या है और मुझे विश्वास है कि जिन लोगों ने अन्य देशों के संविधानों का अध्ययन किया है, और जो इस विषय पर तटस्थ रूप से विचार करने के लिए तैयार हैं, वे यह मानेंगे कि प्रारूप समिति पर कदापि यह दोषारोप नहीं किया जा सकता है कि संविधान निर्माण में उसने आंख बंद कर गुलामों की भांति अन्य संविधानों की नकल की है जैसा कि उसके विरुद्ध कहा जाता है।

इस आरोप के सम्बन्ध में कि संविधान के मसौदे में भारत सरकार अधिनियम, 1935 का ही एक वृहत अंश शामिल किया गया है, मुझे क्षमाप्रार्थी होने की कोई आवश्यकता नहीं। कहीं से भी कोई चीज ली जाये, इसमें लज्जित होने का कोई कारण नहीं है। यह कोई साहित्यिक चोरी नहीं है। संविधान की बुनियादी बातों के लिए किसी व्यक्ति को भी एकाधिपत्य प्राप्त नहीं है। मुझे दुख इस बात का है कि भारत सरकार अधिनियम, 1935 से जो प्रावधान लिये गये हैं, अधिकांशतः उनका सम्बन्ध शासन सम्बन्धी विवरण से है। मैं मानता हूं कि संविधान में शासन सम्बन्धी ब्यौरों का कोई उल्लेख नहीं होना चाहिए। स्वयं मुझे बड़ी प्रसन्नता होती अगर प्रारूप समिति ऐसा मार्ग निकाल पाती जिससे संविधान में ये बातें न शामिल की जातीं। पर आवश्यकतावश इन्हें शामिल करना ही पड़ा और उनको संविधान में रखने का यही औचित्य है। ग्रीस के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री ग्रोट ने कहा है:

> "किसी भी स्वतंत्र और शांतिपूर्ण सरकार के लिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि संवैधानिक नैतिकता का प्रसार न केवल वहां के बहुसंख्यक लोगों में ही बल्कि देश के समस्त नागरिकों में किया जाये, क्योंकि कोई भी शक्तिशाली और दुःसाध्य, हठी अल्पमत वाला वर्ग, चाहे वह स्वयं इतना शक्ति सम्पन्न न हो कि शासन की बागडोर अपने हाथ में ले सके, पर स्वतंत्र शासन का कार्य संचालन दुरूह या कठिन तो बना ही सकता है।"

संवैधानिक नैतिकता से ग्रोट का अभिप्राय यह है:

"संविधान के स्वरूपों के प्रति ऐसी परम श्रद्धा हो जो उन स्वरूपों के अध्यधीन रखकर और उनके अन्तर्गत कार्य करने वाले प्राधिकारियों की आज्ञाओं को मनवाती हो, किन्तु साथ ही निश्चित विधि प्रतिबंधों के अध्यधीन भाषण तथा कार्य स्वातंत्र्य की वृद्धि पैदा करती हो और साथ-साथ उन्हीं प्राधिकारियों के लोक कार्यों के बारे में अबाधित आलोचना की सुविधा देती हो और इसके साथ ही प्रत्येक नागरिक के मन में यह विश्वास

भी पैदा करती हो कि दल-संघर्ष-जनित कटुता के होते हुए भी संविधान के स्वरूपों के प्रति उसके विरोधियों के हृदय में वही आदर होगा जो उसके हृदय में है।"

इस बात को प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करता है कि प्रजातंत्रात्मक संविधान को शांति पूर्वक चलाने के लिए संवैधानिक नैतिकता का प्रसार आवश्यक है, किन्तु इससे परस्पर सम्बद्ध दो बातें है जिन्हें दुर्भाग्य से लोग नहीं जानते। उनमें एक तो यह है कि शासन पद्धति का संविधान पद्धति से बड़ा सन्निकट सम्बन्ध हैं। शासन पद्धति भाव और स्वरूप दोनों की ही दृष्टि से संविधान पद्धति के अनुरूप होनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि संविधान के स्वरूप को बदले बिना ही, केवल शासन प्रणाली में परिवर्तन करके संविधान को पूर्णतः उलट देना, तथा शासन को संविधान की भावना के अनुरूप और प्रतिकूल बना देना बिलकुल सम्भव है इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि केवल वहीं पर जहां लोगों में संवैधानिक नैतिकता का प्रसार है जैसा कि उपर्युक्त इतिहास वेत्ता ने बताया है, इस बात की जोखिम उठाई जा सकती है कि प्रशासन सम्बन्धी विवरण को संविधान में न रखकर उन्हें विधान मण्डल पर छोड़ दिया जाये। अब प्रश्न यह है कि क्या संवैधानिक नैतिकता का प्रसार हम संभव मानते हैं? संवैधानिक नैतिकता की भावना स्वाभाविक, प्रकृति जन्य नहीं होती। इसे तो अभ्यास द्वारा अपनाना होगा। हमें यह जानना चाहिए कि हम देशवासियों को अभी भी इसे सीखना है। भारतीय भूमि स्वभावतः ही अप्रजातंत्रात्मक है, और यहां प्रजातंत्र केवल एक ऊपरी आवरण है।

ऐसी परिस्थिति में शासन सम्बन्धी नियमों को निश्चित करने का काम विधान मण्डल पर न छोड़ना ही श्रेयस्कर है। यही कारण है कि प्रस्तुत संविधान में इन नियमों को स्थान दे दिया गया है।

संविधान के मसौदे के विरुद्ध दूसरी आलोचना यह की गई है कि इसमें कहीं भी भारत की प्राचीन राजनीति को कोई स्थान नहीं दिया गया है। यह कहा जाता है कि इस नवीन संविधान का निर्माण प्राचीन हिन्दू राज्य परम्परा के आधार पर होना चाहिए था और इसमें पाश्चात्य राजनीतिक सिद्धान्तों का समावेश न कर, इसका निर्माण ग्राम और जिला पंचायतों के आधार पर किया जाना चाहिए था। कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनकी विचार-धारा बहुत आगे-अति की ओर चली गई है। वे कोई भी केन्द्रीय या प्रान्तीय शासन नहीं चाहते। वे चाहते हैं कि भारत में केवल ग्राम सरकारें हों। बुद्धि सम्पन्न भारतीयों का ग्राम समाज के प्रति जो प्रेम है वह यदि कारूणिक नहीं तो असीम तो अवश्य ही है इस मनोवृति का बहुत कुछ कारण तो यह है कि श्री मेटकाफ ने जो ग्राम समाज का स्तुतिगान किया है इससे वे प्रभावित हैं। मेटकाफ ने ग्रामों का वर्णन करते हुए कहा है कि वे छोटे-छोटे प्रजातंत्र थे जिनमें अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएं उपलब्ध थीं और जो

वैदेशिक सम्बन्ध स्थापित करने से प्रायः स्वतंत्र थे। मेटकाफ की राय यह है कि सभी क्रांतियों एवं परिवर्तनों में, जिनसे कि यहां की जनता को कष्ट भोगना पड़ा, भारतीय जनसमुदाय की रक्षा में और कोई भी बात उतनी सहायक नहीं हुई है जितना कि इन ग्राम पंचायतों का अस्तित्व जो छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों के रूप में वर्तमान थे, और उनके मतानुसार ये ग्राम पंचायतें बहुत हद तक भारतीयों के सुख में एवं उनके स्वातंत्र्य उपभोग में सहायक हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि जहां और सभी कुछ विनष्ट हो गए हमारा ग्राम समुदाय आज भी वर्तमान है। किन्तु जो लोग इन ग्रामों पर गर्व करते हैं, वे इस बात का विचार ही नहीं करते कि आखिर देश के भाग्य निर्माण में तथा उसके कार्यकलाप में इन ग्रामों ने कितना कम हाथ बटाया है और क्यों? देश के भाग्य निर्माण में इन्होंने क्या भाग लिया है इसका अच्छा वर्णन भी मेटकाफ ने स्वयं किया है। वह कहता है:

> "कितने ही राजवंश आए और गये, कितनी क्रांतिया हुई, हिन्दू, पठान, मुगल, मराठा, सिख, अंग्रेज - सभी बारी-बारी से देश के मालिक बने, किन्तु यहां की ग्राम पंचायतें सदा ज्यों की त्यों बनी रहीं। जब-जब युद्ध हुए, संकट आए, इन्होंने अपने को हथियारबन्द किया, अपनी किले बन्दी की। विरोधी सेना जब इनके प्रदेश में पहुंची तो इन्होंने अपने मवेशियों को चारदीवारी में इकट्ठा कर दिया और शत्रु को बेरोकटोक आगे बढ़ जाने दिया।"

हमारी ग्राम पंचायतों ने देश के इतिहास में यही भूमिका निभाई है। इसे जानते हुए हमें उनके लिए आखिर क्या गर्व हो सकता है। यह बात सच हो सकती है कि भयंकर उथल-पुथल के होते हुए भी ये जीवित रह गयीं। किन्तु केवल जीवित रहने का क्या मूल्य है? प्रश्न तो यह है कि किस स्तर पर ये जीवित रहीं? निश्चय ही बड़े निम्न और स्वार्थपूर्ण स्तर पर ये जीवित रहीं। मेरा मत है कि ये ग्राम पंचायतें ही भारत की बर्बादी का कारण रही हैं। इसलिए मुझे आश्चार्य होता है कि जो लोग प्रान्तीयता की, साम्प्रदायिकता की निन्दा करते हैं, वही ग्रामों की इतनी प्रशंसा कर रहे हैं। हमारे ग्राम हैं क्या? ये कूप मण्डूकता के परनाले हैं, अज्ञान, संकीर्णता एवं साम्प्रदायिकता की काली की काली कोठरियां हैं। मुझे तो प्रसन्नता है कि संविधान के मसौदे से ग्राम को निकाल दिया गया है और व्यक्ति को राष्ट्र का अंग माना गया है।

संविधान के मसौदे की इसलिए भी आलोचना की गयी है कि इसमें अल्पसंख्यकों के संरक्षण की व्यवस्थायें रखी गयी हैं। इसके लिए प्रारूप समिति जिम्मेदार नहीं है। इसे तो संविधान सभा के निर्णयों के अनुसार चलना था। जहां तक मेरे निजी मत की बात है, मैं कह सकता हूं कि संविधान सभा ने अल्पसंख्यकों के संरक्षण की व्यवस्था करके अवश्य ही बुद्धिमानी का काम किया है। इस देश के बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक दोनों ही वर्ग

एक गलत रास्ते पर चले हैं। बहुसंख्यक वर्ग की यह गलती है कि इसने अल्पसंख्यक वर्ग का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया, और इसी प्रकार अल्पसंख्यक वर्ग की यह गलती है कि उसने अपने को सदा के लिए अल्पसंख्यक बनाये रखा। अब एक ऐसा मार्ग निकालना ही होगा जिससे ये दोनों गलतियां दूर हों। मार्ग ऐसा होना चाहिए जो अल्पसंख्यकों का अस्तित्व मान कर इस सम्बन्ध में आगे बढ़े। और साथ ही मार्ग ऐसा भी हो जिससे कि एक दिन अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक दोनो ही वर्ग-आपस में मिलजुलकर एक हो जायें। इस सम्बन्ध में संविधान सभा ने जो उपाय रखा है वह निस्सन्देह अभिनन्दनीय है, क्योंकि इससे हमारे उपर्युक्त दोनों ही उद्देश्य सिद्ध हो जाते हैं। दो बातें मैं उन कट्टर प्राचीन पंथियों को कहना चाहता हूं कि जिन्होंने अल्पसंख्यकों के संरक्षण के विरुद्ध एक हठ धर्मिता का भाव अपना लिया है। इस बात उनसे यह कहना चाहता हूं कि अल्पसंख्यक एक भयंकर विस्फोट पदार्थ के समान होते हैं, जो अगर फटा तो सारे राजकीय ढांचे को तहस-नहस कर सकता है। यूरोप का इतिहास इस बात का एक ज्वलंत प्रमाण है। दूसरी बात मैं यह कहना चाहता हूं कि भारत का अल्पसंख्यक समुदाय इस बात पर सहमत हो गया है कि वह अपने अस्तित्व को बहुसंख्यक समुदाय को सौंप दे। आयरलैंड का विभाजन रोकने के लिए जो बातचीत चली थी उसके सिलसिले में श्री रेडमांड ने मि० कारसन से यह कहा था: "प्रोटेस्टेंट अल्पसंख्यकों के लिए आप जो भी संरक्षण चाहते हों मांग लें, किन्तु आयरलैंड को हमें अखण्ड रखना चाहिए।" इसके जबाव में कारसन ने कहा था: "भाड़ में जायें आप के संरक्षण, हम आपसे शासित होना नहीं चाहते।" भारत के किसी भी अल्पसंख्यक समुदाय ने यह रुख नहीं अपनाया है - उन्होंने बहुसंख्यक समुदाय के शासन को निष्ठापूर्वक स्वीकार कर लिया है, यहां का बहुसंख्यक वर्ग सम्प्रदाय के आधार पर बहुसंख्यक है, न कि किसी राजनैतिक सिद्धान्त के आधार पर बहुसंख्यक वर्ग का यह फर्ज है कि अल्पसंख्यकों के प्रतिकूल वह कोई भेदभाव न बरते। बहुसंख्यक वर्ग को अपने इस फर्ज का ख्याल रखना चाहिए। अल्पसंख्यक वर्ग इसी प्रकार अपना पृथक अस्तित्व बनाये रहेगा या अपने को राष्ट्र में विलीन कर देगा, यह बात बहुसंख्यक वर्ग के व्यवहार पर निर्भर करती है। जिस क्षण बहुसंख्यक वर्ग अल्पसंख्यककों के प्रति भेदभाव बरतने की आदत छोड़ देगा, उसी क्षण अल्पसंख्यकों के अस्तित्व का आधार जाता रहेगा और वे लुप्त हो जायेंगे।

संविधान के मसौदे के उस भाग की सर्वाधिक हुई है जिसमें मौलिक अधिकारों का उल्लेख है कहा जाता है कि अनुच्छेद 13 में, जिसमें मौलिक अधिकारों की व्याख्या की गई है, इतने अधिक प्रतिबन्ध रख दिये गये हैं कि इनके कारण मौलिक अधिकारों का कोई भूल्य नहीं रह जाता। इसकी इतनी निन्दा की गई है कि इसे एक प्रकार का छल कहा गया है। आलोचकों की राय में मौलिक अधिकार तब तक मौलिक अधिकार नहीं है

जब तक कि वे सर्वथा सम्पूर्ण प्रतिबंध रहित न हों। अपने मत के समर्थन में आलोचकवृन्द अमेरिका के संविधान का तथा उस संविधान के प्रथम दस संशोधनों में दिये हुये अधिकार पत्र (Bill of Rights) का सहारा लेते हैं। यह कहा गया है कि अमेरिका के मौलिक अधिकार, जो कि अधिकार-पत्र में दिये गये हैं, वास्तविक हैं, क्योंकि उन्हें किसी प्रतिबंध के अधीन नहीं रखा गया है।

मुझे दुख के साथ कहना पड़ता है कि मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में की गई यह सारी आलोचना एक मिथ्या धारणा के आधार पर की गई है। पहली बात तो यह है कि मौलिक एवं अमौलिक अधिकारों में क्या अन्तर होना चाहिये, इस प्रसंग में जो आलोचना की गई है,वह तथ्यपूर्ण नहीं है। यह कहना गलत है कि मौलिक अधिकार सर्वथा संपूर्ण प्रतिबंध रहित होते हैं और अन्य अधिकार अबाध नहीं होते। इन दोनों में वास्तविक अन्तर यह है कि मौलिक अधिकार कानून की देन हैं, जब कि अन्य अधिकार विभिन्न दलों के पारस्परिक समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। चूंकि मौलिक अधिकार राज्य की देन हैं, इसलिए राज्य उनके सम्बन्ध में कोई प्रतिबंध नहीं रख सकता, ऐसा अर्थ लगाना भूल है

दूसरी बात यह है कि अमेरिका के मौलिक अधिकार अबाध हैं, यह कहना गलत है। अमेरिकन संविधान में तथा प्रस्तुत संविधान में केवल रूप का अन्तर है, आशय का नहीं। यह बात निविर्वाद है कि अमेरिका के जो मौलिक अधिकार हैं, वह अबाध नहीं हैं। अपने संविधान के मसौदे में मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में जो प्रतिबन्ध रखे गये हैं, उसमें से प्रत्येक के समर्थन में अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के कम से कम एक निर्णय का हवाला तो दिया ही जा सकता है। संविधान के सौदे के अनुच्छेद 13* में दिये हुये भाषण स्वतंत्रता संबंधी अधिकार पर जो प्रतिबंध रखा गया है, उसके औचित्य के संबंध में अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय का एक निर्णय उद्धृत कर देना यहां काफी है। **गिटलो बनाम न्यूयार्क** के मुकदमें में राज विप्लव के लिए दण्ड से सम्बन्ध रखने वाली न्यूयार्क की एक विधि की वैधानिकता का प्रश्न उपस्थित था उक्त विधि के अनुसार ऐसे भाषण जो भयंकर उथल-पुथल और परिवर्तन उपस्थित करते हों, दण्डनीय थे। इस मुकदमें में फैसला देते हुये सर्वोच्च न्यायालय ने कहा थाः

> "यह एक चिरप्रतिष्ठि मौलिक सिद्धान्त है कि संविधान द्वारा भाषण एवं प्रकाशन सम्बन्धी जो स्वतंत्रता प्राप्त है, उससे किसी को यह अधिकार नहीं मिलता है कि वह बिना दायित्व के जो चाहे कहे या प्रकाशित करे और न उससे उस बात का अबाध अनियंत्रित अधिकार मिलता है कि लोग स्वतंत्र होकर चाहे जैसी भाषा का व्यवहार करें और इस स्वतंत्रता का दुरुपयोग करने के कारण वे दण्ड के भागी नहीं होंगे।"

इसलिए यह कहना गलत है कि अमेरिका में जो, मौलिक अधिकार प्राप्त हैं, वे सर्वथा सम्पूर्ण हैं, पर इस संविधान के मसौदे में जो मौलिक अधिकार दिये गये हैं, वे सर्वथा सम्पूर्ण नहीं हैं।

यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि अगर मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध अपेक्षित है, तो संविधान में ही उस प्रतिबन्ध का उल्लेख होना चाहिए, जैसा कि अमेरिका के संविधान में किया गया है और अगर संविधान में इन प्रतिबंधों का उल्लेख नहीं किया जाता है, तो फिर इस बात को न्यायपालिका पर छोड़ देना चाहिये कि सभी आवश्यक बातों पर विचार कर वही प्रतिबन्धों को निश्चित करे। मुझे दुख के साथ कहना पड़ता है कि इस प्रकार के तर्कों से लोग अमेरिका के संविधान के सम्बन्ध में यदि अपनी अज्ञानता नहीं प्रकट करते हैं, तो उसका गलत स्वरूप अपने सामने रखते हैं। अमेरिका के विधान में ऐसी कोई भी बात नहीं है, केवल, एक बात को छोड़ कर, यानी सभा के अधिकार के सिवा मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में जिनकी कि अमेरिका के नागरिकों को प्रत्याभूति (गारंटी) प्राप्त है, अमेरिका के संविधान ने कोई भी प्रतिबन्ध नहीं लगा रखा है। और न यही कहना सही है कि मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध रखने का काम अमेरिका के संविधान ने न्यायपालिका पर छोड़ दिया है। प्रतिबन्ध लागू करने का अधिकार वहां कांग्रेस को प्राप्त है। वहां वास्तविक स्थिति उससे भिन्न है जो कि हमारे आलोचकों ने मान रखी है। अमेरिका में संविधान ने जो मौलिक अधिकार दिये थे, वे अवश्य ही पहले तो अबाध थे, पर शीघ्र ही कांग्रेस को इस बात का आभास मिल गया कि इन मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध रखना नितान्त आवश्यक है। जब वहां सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष इन प्रतिबन्धों की संवैधानिकता का प्रश्न उठा तो यह तय पाया गया कि संविधान द्वारा अमेरिका की कांग्रेस को इन प्रतिबन्धों को लगाने का कोई अधिकार नहीं प्राप्त है; पर सर्वोच्च न्यायालय ने "पुलिस अधिकार" के सिद्धान्त का आविष्कार किया और मौलिक अधिकार को अबाध मानने वाली विचारधारा का खण्डन इस तर्क द्वारा किया कि प्रत्येक राज्य को पुलिस-अधिकार स्वतः प्राप्त रहता है और यह आवश्यक नहीं है कि स्पष्ट उल्लेख द्वारा संविधान यह अधिकार उसे प्रदान करे। उक्त मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था:

> "इस बात के सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता है कि राज्य अपने पुलिस अधिकार के प्रयोग में उन व्यक्तियों को दण्ड दे सकता है, जो इस स्वातंत्र्य का दुरुपयोग ऐसे भाषणों द्वारा करते हैं, जो जनहित के प्रतिकूल हैं, जनता के नैतिक स्तर को गिराते हैं, अपराध को उत्तेजना देते हैं और लोकशान्ति को बाधा पहुंचाते हैं।"

इस सम्बन्ध में संविधान के मसौदे में जो किया गया है, वह यह है कि बजाय इसके कि वह मौलिक अधिकारों को प्रतिबंधशून्य रखे और संसद के बचाव के लिए अपने सर्वोच्च न्यायालय पर निर्भर करे कि वह "पुलिस-अधिकार" जैसे किसी सिद्धान्त का आविष्कार कर उसका बचाव करेगा, उसने मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लागू करने का अधिकार सीधे राज्य को दे दिया है। इन दोनों ही तरीकों से परिणाम में कोई अन्तर नहीं आता। एक प्रत्यक्ष रूप से प्रतिबंध लागू करता है और दूसरा परोक्ष रूप से; किन्तु इन दोनों में से किसी में भी मौलिक अधिकार सर्वथा अबाध नहीं है।

संविधान के इस मसौदे में मौलिक सिद्धान्तों के बाद ही "नीति निर्देशक सिद्धान्त" रखे गये हैं। ये सिद्धान्त संसदीय प्रजातंत्र के लिये निर्मित संविधान की एक उल्लेखनीय विशेषता है संसदीय प्रजातन्त्र के लिये निर्मित अन्य संविधानों में केवल आयरिश स्वतंत्र राज्य के विधान में ही ये सिद्धान्त रखे गये हैं। इन नीति निर्देशक सिद्धान्तों की भी आलोचना हुई है। यह कहा गया है कि ये सिद्धान्त केवल पवित्र घोषणा के ही रूप में हैं। इनमें दायित्व आरोपित करने की शक्ति नहीं है। निश्चय ही यह आलोचना व्यर्थ और अनावश्यक है। स्वयं संविधान में यह बात कई शब्दों में कही गई है।

अगर यह कहा जाय कि इन नीति निदेशक सिद्धान्तों के पीछे कानून का कोई बल नहीं है, तो मैं इसे मानने को तैयार हूं। किन्तु यह मानने को मैं कदापि तैयार नहीं हूं कि दायित्व आरोपित करने की इनमें कोई शक्ति है ही नहीं। और न मैं यही मानने को तैयार हूं कि चूंकि इनके पीछे कोई कानूनी बल नहीं है, इसलिए ये व्यर्थ हैं।

ये नीति निर्देशक सिद्धान्त उस आदेश पत्र के समान हैं जो कि 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार भारत के गवर्नर जनरल को और उपनिवेशों के तथा भारत के गवर्नरों को जारी करती थी। इस संविधान के मसौदे में प्रधान को तथा गवर्नरों को ऐसा आदेश पत्र जारी करने की बात रखी गयी है। इस आदेश का मूल पाठ आपको संविधान की चौथी अनुसूची में मिलेगा। पत्रों जिसे हम नीति निर्देशक सिद्धान्त कहते हैं, वह वस्तुतः आदेश-पत्र का ही एक दूसरा नाम है। अन्तर केवल इतना है कि ये सिद्धान्त विधायिका एवं कार्यपालिका वर्ग के नाम जारी किये गये आदेश हैं। मैं तो समझता हूं कि ऐसी व्यवस्था अभिनन्दीय होनी चाहिए। जहां भी शान्ति व्यवस्था एवं उत्कृष्ट शासन के लिए बिना किसी विशेष उल्लेख के अधिकार दिये जाते हैं, यह आवश्यक होता है कि इन अधिकारों के प्रयोग के विनियमन के लिए साथ में आदेश अवश्य हो। संविधान में ऐसे आदेशों को शामिल करना जैसे कि प्रस्तुत मसौदे में प्रस्तावित है, एक और कारण से उचित हो जाता है। संविधान का मसौदा जिस रूप में यह है, देश के शासन के लिये केवल एक व्यवस्था मात्र बना देता है। यह किसी दल विशेष को सत्ताशीन करा देने की

एक योजना नहीं है, जैसा कि कुछ देशों में किया गया है। सत्ताशीन कौन हो, इस बात का निर्णय जनता पर छोड़ दिया गया है और ऐसा ही होना चाहिए अगर प्रजातंत्र की कसौटी पर इस व्यवस्था को सही उतारना है। इस व्यवस्था से यह होगा कि चाहे जो भी सत्ताशीन हो जाय, किन्तु संविधान को लेकर वह मनमानी नहीं कर सकता। इसके प्रयोग में उसे इन आदेश-पत्रों का, जिन्हें हमने नीति निर्देशक सिद्धान्त कहा है, आदर करना ही होगा। वह उनकी उपेक्षा कर नहीं सकता। हो सकता है कि इनको भंग करने के लिए उसे किसी अदालत के सामने जबाव न देना पड़े, किन्तु चुनाव के समय निर्वाचकों के समक्ष उसे निश्चित रूप से इसका जबाब देना होगा। इन नीति-निर्देशक सिद्धान्तों का कितना बड़ा महत्व है इस बात का और सही आभास तब मिलेगा जब सच्चाई की शक्तियां सत्तारूढ़ होने का प्रयास करेंगी।

यह कहना कि इसमें दायित्व आरोपित करने की शक्ति नहीं है, संविधान में इनको रखने के विरूद्ध कोई तर्क नहीं है। संविधान में ये किस स्थान पर रखे जायें इस सम्बन्ध में तो मतभेद हो सकता है। मैं यह मानता हूं कि यह बात कुछ असंगत मालूम पड़ती है कि ऐसी व्यवस्थायें या धारायें जो प्रतिबन्ध-मूलक नहीं है, वे उन धाराओं के साथ रख दी जायं, जो प्रतिबंध आरोपित करती हों। मेरे विचार से उनका सही स्थान अनुसूची 3 ए और 4 में है जिनमें प्रधान तथा गवर्नरों के लिए आदेश-पत्र दिये गये हैं। यह इसलिए कि, जैसा मैंने कहा है, ये वस्तुतः अधिशासी वर्ग एवं विधान-मण्डलों के लिए आदेश-पत्र है कि वे अपने अधिकारों का प्रयोग किस प्रकार करें। किन्तु इसे कहां रखा जाये, यह उपक्रम से सम्बन्ध रखने वाली बात है।

कुछ आलोचकों ने यह कहा है कि केन्द्र बहुत प्रबल हो गया है। अन्य ने यह कहा कि इसे और भी मजबूत बनाना चाहिए। संविधान के मसविदे में संतुलन का, बीच का, मार्ग अपनाया गया है। चाहे आप जितना चाहें कि केन्द्र को अधिक अधिकार न दिये जायें, पर केन्द्र को प्रबल होने से रोकना कठिन है। आधुनिक विश्व में परिस्थितियां ऐसी हैं कि शक्तियों का केन्द्रीयकरण अपरिहार्य हो गया है। इस सम्बन्ध में अमेरिका की संघ-सरकार के विकास पर विचार करना होगा। यह संघ-सरकार, बावजूद इस बात के कि संविधान ने इसे बड़ी सीमित शक्तियां प्रदान की थीं, आज अपने मूल स्वरूप से कहीं अधिक शक्तिशाली हो गई है और वहां की राज्य सरकारों पर बिलकुल छा गई है। आधुनिक स्थितियों के कारण ऐसा हुआ है। यही स्थितियां भारत सरकार पर निश्चय ही अपना असर डालेगी और हमारा कोई भी प्रयास केन्द्र को प्रबल होने से नहीं रोक सकता। दूसरी तरफ केन्द्र को और प्रबल बनाने की जो प्रवृत्ति है, उसका हमें विरोध करना ही होगा। उतने से अधिक

यह ग्रहण नहीं कर सकता, जितने को वह सम्भाल सकता है। इसकी शक्ति इसके भार के अनुरूप ही होनी चाहिए। अगर हम इसे इतना प्रबल बना दें कि वह अपने ही भार से गिर जाय तो यह मूर्खता होगी।

.इस प्रारूप की आलोचना इस बात के लिये भी की गई है कि इसमें केन्द्र और प्रान्तों के बीच एक प्रकार के वैधानिक सम्बंध की व्यवस्था है और केन्द्र और रियासतों के बीच एक भिन्न प्रकार के वैधानिक सम्बन्ध की। रियासतें संघ-सूची में दिये हुए विषयों की सम्पूर्ण तालिका को मानने के लिये बाध्य नहीं हैं। रक्षा, विदेशी मामले, तथा संचार के अन्तर्गत आने वाले विषयों को मानने के लिये बाध्य नहीं हैं। समवर्ती सूची में दिये हुए विषयों को मानने के लिए वे बाध्य नहीं हैं, इस प्रारूप में दी हुई राज्य सूची को भी मानने को वे बाध्य नहीं है। उन्हें इस बात की स्वतंत्रता है कि वे अपनी विधानसभा सृजित करके संविधान खुद बनायें। निसन्देह यह सभी बातें दुर्भाग्यपूर्ण हैं और मैं मानता हूं कि इनके पक्ष में कुछ नहीं कहा जा सकता। यह असमानता राज्य की कार्यक्षमता के लिये संकटप्रद सिद्ध हो सकती है। जब तक यह विषमता मौजूद है, अखिल भारतीय मामलों पर केन्द्र की क्षमता कारगर न हो सकेगी क्योंकि अगर शक्ति का प्रयोग सभी मामलों में और सर्वत्र न किया जा सके, तो वह शक्ति शक्ति नहीं है। युद्धजनित स्थिति में कुछ इलाकों में अत्यावश्यक शक्तियों के प्रयोग पर ऐसे प्रतिबन्धों के कारण राज्य का जीवन ही सर्वथा संकटपूर्ण हो सकता है। इससे भी बुरी बात यह है कि इस प्रारूप में रियासतों को अपनी सेना रखने की अनुमति दी गई है। मैं इस उपबन्ध को बड़ा ही हानिकारक और विपरीतगामी समझता हूं जो भारत की एकता को छिन्न-भिन्न कर सकता है और केन्द्रीय सरकार को उलट सकता है। अगर मैं प्रारूप समिति के विचार को रखने में गलती नहीं कर रहा हूं, तो इस व्यवस्था से वह बिलकुल ही सन्तुष्ट न थी। उसके सदस्य बहुत चाहते थे कि प्रान्तों और रियासतों का केन्द्र से जो वैधानिक सम्बन्ध हो, उसमें एकरूपता हो। दुर्भाग्य से इस मामले में सुधार के लिये वे कुछ भी नहीं कर सके। वे संविधान सभा के निर्णयों से बंधे थे और संविधान सभा उस समझौते से बंधी थी, जो दोनों वार्ता समितियों के बीच तय हुआ था।

परन्तु हम इस सम्बन्ध में जर्मनी में जो हुआ, उससे साहस जुटा सकते है। जर्मन साम्राज्य, जैसाकि बिस्मार्क ने 1870 ई० में उसे स्थापित किया था, एक विमिश्र राज्य था, जिसमें 25 इकाइयां थी। इन 25 राज्यों में से 22 तो राजतंत्रीय थे और शेष 3 गणतंत्रीय नगर-राज्य थे। यह विभेद, जैसा कि हम सब को मालूम है, कलान्तर में चलकर खुलप्त हो गया और समूचा राज्य एक हो गया और सभी निवासी एक हो गये और समस्त राज्य का शासन एक संविधान के आधीन होने लगा। भारतीय रियासतों के एकीकरण का काम उससे भी शीघ्र समाप्त होने जा रहा है, जितने समय में कि जर्मनी में यह काम हुआ था।

15 अगस्त, 1947 को यहां 600 रियासतें थीं। और आज इन रियासतों के प्रान्तों में मिल जाने से अथवा इनके अपने-अपने संघ बना लेने से या केन्द्र द्वारा उन्हें केन्द्र-शासित क्षेत्र बना देने से इनकी संख्या केवल 20/30 राज्यों तक रह गई है, जो अपने पांव पर खड़े हो सकते हैं। यह बड़ी तेज प्रक्रिया और प्रगति है। जो रियासतें रह गई हैं, उनसे मैं अपील करता हूं कि वे भारतीय प्रान्तों के स्तर पर आ जायें और उन्हीं की तरह भारतीय संघ का पूर्णतः अंग बन जायें। ऐसा करके वे भारतीय संघ को वह बल देंगी, जिसकी इसे आवश्यकता है। ऐसा करने से वे अपनी-अपनी संविधान सभाओं का निर्माण करने तथा अपना-अपना अलग संविधान बनाने के झंझट से बच जायेंगी और उनके लाभ की किसी भी बात में उन्हें कोई हानि नहीं उठानी होगी। मुझे आशा है कि मेरी अपील व्यर्थ न जायेगी और अपने संविधान के पारित होने से पहले ही हम प्रान्तों और रियासतों में जो अन्तर है, उसे दूर कर देंगे।

कई आलोचकों ने प्रारूप के अनुच्छेद 1 में भारत को, जो राज्यों का संघ (Union of States) बताया गया है, उस पर आपत्ति की है। यह कहा जाता है कि इस संबन्ध में सही शब्दावली होनी चाहिये, राज्यों का संघ (Federation of States)। यह सच है कि दक्षिणी अफ्रीका जो एकात्मक राज्य है, उसे संघ कहा जाता है। किन्तु कनाडा को भी संघ ही कहा जाता है, पर है वह एक राज्य संघ। इस तरह भारत को 'संघ' कहने से, तथापि उसका विधान संघात्मक है, प्रचलित परिपाटी पर कोई आघात नहीं पड़ता है। परन्तु इस सम्बन्ध में महत्व की बात तो यह है, कि संघ शब्द का प्रयोग जानबूझ कर दिया गया है। कनाडा के विधान में उसे संघ क्यों कहा गया है, यह तो मैं नहीं जानता; पर प्रारूप समिति ने इस शब्द का प्रयोग क्यों किया है, यह मैं जरूर बता सकता हूं। प्रारूप समिति इस बात को स्पष्ट करना चाहती थी कि यद्यपि भारत एक राजसंघ बनने जा रहा है, पर यह किसी ऐसे समझौते के फलस्वरूप नहीं बन रहा है, जिससे प्रादेशिक राज्यों ने राज्यसंघ में सम्मिलित हो जाना स्वीकार किया हो। उक्त समिति यह भी स्पष्ट कर देना चाहती थी कि चूंकि राज्य संघ किसी ऐसे समझौते के आधार पर नहीं बन रहा है, इसलिये किसी भी राज्य को राजसंघ से अलग होने का अधिकार नहीं है। यह राज्यसंघ एक संघ है, इसलिये कि वह नष्ट नहीं हो सकता। यद्यपि शासन की सुविधा के लिये इस देश को और यहां के निवासियों को अलग-अलग राज्यों में बांटा जा सकता है, किन्तु सब मिलाकर देश एक है, इसके निवासी एक हैं और एक सर्वोच्च शक्ति के अधीन हैं, जिसको समस्त शक्ति एक ही सूत्र से प्राप्त हुई है। अमेरिकावासियों को इस सिद्धान्त को स्थापित करने के लिए कि राज्यों को संघ से अलग होने का कोई अधिकार नहीं है और संघ अविनाश्य है, गृह-युद्ध करना पड़ा था। प्रारूप समिति ने यही श्रेयस्कर समझा कि प्रारम्भ में ही

इसे स्पष्ट कर दिया जाये, ताकि भविष्य में इसके सम्बन्ध में कोई विवाद या अटलबाजी का प्रश्न न उठे।

संविधान के प्रारूप के आलोचकों ने इसके उन प्रावधानों की, जिनका संबंध संविधान के संशोधन से है, बड़ी ही तीव्र आलोचना की है। यह कहा गया है कि प्रारूप के इन प्रावधानों से संविधान में संशोधन करना बड़ा कठिन हो गया है। यह सुझाया गया है कि ऐसा प्रावधान रखना चाहिये कि कम से कम कुछ वर्षों तक साधारण बहुमत द्वारा संविधान में संशोधन किया जा सके। यह तर्क विलक्षण और चातुर्यपूर्ण है। कहा जाता है कि संविधान सभा वयस्क मताधिकार के आधार पर नहीं चुनी गई है, जब कि भविष्य की संसद वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी जायेगी; किंतु फिर भी संविधान सभा को साधारण बहुमत द्वारा संविधान स्वीकार करने का अधिकार प्राप्त है। संसद को यही अधिकार नहीं दिया गया है। इस बात का चारों ओर शोर मचाया जाता है कि प्रारूप की असंगत बातों में यह एक है। मैं इस दोषारोपण का खंडन करता हूं, क्योंकि यह बिलकुल निराधार है। संविधान में संशोधन से संबंध रखने वाले प्रस्तुत प्रारूप के प्रावधान कितने सरल हैं, यह जानने के लिये हमें आस्ट्रेलिया एवं अमेरिका के संविधानों के संशोधन संबंधी प्रावधानों को देखना काफी है। उनकी तुलना में वे प्रावधान जो हमारे संविधान में रखे गये हैं, बहुत ही सरल हैं। रूढ़ि या लोकमत-संग्रह द्वारा इस संबंध में निर्णय किया जाये, इस विस्तृत और कठिन पद्धति को अपने संविधान के प्रारूप से हटा दिया गया है। संविधान में संशोधन करने का अधिकार केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान-मंडलों को दिया गया है। विशेष विषयों के संबंध में ही—और इसकी संख्या बहुत ही कम है -- रियासती विधान-मंडलों का अनुमोदन अपेक्षित रखा गया है। संविधान के अन्य सभी अनुच्छेदों के संबंध में संशोधन का अधिकार संसद को दिया गया है। इस संबंध में एक मात्र प्रतिबंध यह रखा गया है कि प्रत्येक सभा के वर्तमान एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से तथा प्रत्येक सभा की संपूर्ण सदस्य संख्या के बहुमत से स्वीकृत होने पर ही संशोधन ग्राह्य होगा। संविधान में संशोधन करने का इससे भी कोई सरल प्रावधान हो सकता है, इसका अनुमान करना कठिन है।

संशोधन संबंधी प्रावधानों की कई बातों को जो असगंत कहा गया है, इसका कारण यह है कि संविधान सभा की स्थिति को तथा संविधान के अधीन चुनी जाने वाली भावी संसद की स्थिति को ठीक-ठीक नहीं समझा गया है। संविधान के निर्माण के पीछे संविधान सभा की कोई संकुचित पक्षपात की भावना नहीं है। एक सुंदर और सुचारू रूप से व्यवहृत होने योग्य संविधान बनाना की इस सभा का उद्देश्य है और इसके अतिरिक्त इसे कोई अपना विशेष अभिप्राय सिद्ध नहीं करना है। संविधान के अनुच्छेदों पर विचार करते समय इनकी दृष्टि इस बात पर नहीं थी कि किसी विशेष प्रावधान को पास कराया

जाये। भावी संसद अगर संविधान सभा के रूप में समवेत हुई, तो इसके सदस्य वहां पक्षपात की भावना से ही कार्य करेंगे और संविधान में ऐसे संशोधन पास करना चाहेंगे, जिनसे वे अपने दल के उन प्रावधानों को स्वीकार करा सकें, जिन्हें संसद से मंजूर कराने में वे इस कारण असमर्थ रहे कि संविधान का कोई अनुच्छेद उनकी राह में बाधक होता था। संसद का तो अपना विशेष उद्देश्य होगा, जिसे वह सिद्ध करना चाहेगी, पर संविधान सभा को अपना कोई विशेष अभिप्राय सिद्ध नहीं करना है। संविधान सभा में तथा भावी संसद में यही अंतर है। यही मुख्य कारण है कि संविधान सभा, यद्यपि वह सीमित मताधिकार के आधार पर चुनी गई है, साधारण बहुमत द्वारा संविधान पास करे, इस पर तो हम भरोसा कर सकते हैं, पर संसद को साधारण बहुमत द्वारा संविधान में संशोधन करने का अधिकार दिया जाये, इस पर हमें चिंता हो जाती है; यद्यपि वह वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित होगी।

प्रारूप समिति द्वारा तैयार किये हुये संविधान के प्रारूप के विरुद्ध जो भी आलोचनायें हुई हैं, उन सब का, मैं समझता हूं, मैंने जवाब दे दिया है। मैं नहीं समझता कि ऐसी किसी भी आवश्यक आलोचना का उत्तर देना अभी बाकी रह गया है, जो कि गत आठ महीनों के अंदर हुई हो, जब से कि संविधान जनता के सम्मुख आया है, यह निर्णय करना अब संविधान सभा का काम है कि वह प्रारूप समिति द्वारा तय किये संविधान को ही स्वीकार करेगी या इसमें परिवर्तन करके इसे स्वीकार करेगी।

परंतु इस संबंध में मैं एक बात अवश्य कहना चाहता हूं कि भारत के कई प्रांतीय विधान-मंडलों में संविधान पर बहस हुई है और सोच-विचार किया गया है। बम्बई, मध्यप्रान्त, पश्चिमी बंगाल, बिहार, मद्रास एवं पूर्वी पंजाब के विधान-मंडलों ने इस पर बहस और विचार किया है। यह सच है कि कई प्रांतीय विधान मंडलों ने संविधान की वित्तीय व्यवस्थाओं पर गंभीर आपत्ति की है तथा मद्रास ने इसके अनुच्छेद 226* पर आपत्ति की है। परंतु इसके सिवाय संविधान के अन्य किसी अनुच्छेद के संबंध में किसी भी प्रान्तीय विधान-मण्डल ने कोई विशेष आपत्ति नहीं की है। कोई भी संविधान सर्वथा पूर्ण नहीं हो सकता और इसके अलावा स्वयं प्रारूप समिति ने उसे और अच्छा बनाने के लिए कई संशोधनों का सुझाव रखा है। पर प्रान्तीय विधान-मंडलों में इसके संबंध में जो बहस हुई है, उसके आधार पर मैं यह कहने का साहस कर सकता हूं कि यह संविधान जैसा कि प्रारूप समिति ने इसे तैयार किया है, इस देश के कार्यारम्भ के लिए काफी अच्छा है। मैं ऐसा समझता हूं कि यह संविधान व्यवहार्य है। यह लचीला है और इतना सबल है कि युद्ध एवं शांति दोनों ही समय देश को एक सूत्र में बांधे रख सकता है। मैं

---

*अनुच्छेद 249

यह कहूंगा कि यदि नवीन संविधान के अन्तर्गत कोई गड़बड़ी पैदा होती है, तो इसका कारण यह नहीं होगा कि हमारा संविधान खराब था, बल्कि यह कहना चाहिए कि मनुष्य ही भ्रष्ट था, नीच था।

12

आर्थिक प्रजातंत्र का आदर्श तथा नीति निदेशक सिद्धान्तों के संबंध में**

उपाध्यक्ष महोदय, मैं समझता हूं कि संविधान के वास्तविक उपबंधों के संबंध में इस सभा के उन सदस्यों में पर्याप्त भ्रम है, जो इस प्रकार के निदेशक सिद्धांतों में रुचि रखते हैं। यह संभव हो सकता है कि इनके बारे में भ्रम अथवा इनको ठीक-ठीक समझने में कठिनाई इस कारण से हुई है कि प्रश्न के इस स्वरूप के संबंध में मैंने अपने उस प्रारम्भिक वक्तव्य में कुछ न कहा था, जो कि मैंने इस प्रस्ताव को रखते समय सभा के सामने दिया था। यह बात न थी कि मैं इस प्रश्न को सभा के सामने पूरी स्पष्टता से रखना नहीं चाहता था और इसलिये मैंने इस बारे में मौन साधा। इसके विपरीत मैं तो सभा के सामने पूरी तरह रखना चाहता था, पर मैंने समझा कि मेरा व्याख्यान अत्यन्त लम्बा होने के कारण पहले ही पर्याप्त अरुचिकर हो गया होगा और यह उचित न होगा कि उसे और लम्बा करके और अधिक अरुचिकर बनाया जाये। किंतु मैं समझता हूं कि यह उचित है कि मैं सभा के कुछ क्षण इस बात को साफ करने के लिये लूं कि इस बारे में संविधान की क्या आधारभूत मान्यता है। मैं पहले कह चुका हूं कि शासन-प्रणाली की दृष्टि से यह संविधान, संसदीय प्रजातंत्र की स्थापना करता है। संसदीय प्रजातंत्र का अर्थ है, एक व्यक्ति एक मत हमारा यह भी आशय है कि प्रत्येक सरकार अइटन की कसौटी पर होगी जब अपने प्रत्येक दिन के कारोबार में तथा एक निश्चित अवधि के उपरान्त, मतदाताओं को सरकार के काम को आंकने का अवसर दिया जायेगा। इस संविधान द्वारा हमने राजनैतिक प्रजातंत्र की स्थापना इसी कारण से की है कि हम किसी प्रकार से भी किसी विशेष जन समाज की स्थायी तानाशाही स्थापित करना नहीं चाहते हैं। यद्यपि हमने राजनैतिक प्रजातंत्र की स्थापना कर दी है, हमारी यह भी इच्छा है कि अपने आर्थिक प्रजातंत्र के आदर्श की भी रूपरेखा हम इसमें दे दें। हम केवल ऐसा तंत्र स्थापित करना नहीं चाहते, जिसके द्वारा जनता सत्ता ग्रहण कर ले। इस संविधान का यह भी अभिप्राय है

**संविधान सभा वाद-विवाद, खंड 7, 19 नवम्बर, 1948, पृष्ठ 494-495

कि उन लोगों के सामने एक आदर्श रख दिया जाये, जो लोग कि भविष्य में मंत्रिमंडल में होंगे। यह विचार है आर्थिक प्रजातंत्र, जहां तक मेरा संबंध है, मैं इसका यही अर्थ समझता हूं कि एक व्यक्ति एक मत। प्रश्न यह उठता है कि क्या इस संबंध में हमारा कोई निश्चित विचार है कि हम किस प्रकार से आर्थिक प्रजातंत्र की स्थापना करेंगे! ऐसी अनेकों विधियां हैं, जिनके द्वारा लोग विश्वास करते हैं कि आर्थिक प्रजातंत्र की स्थापना की जा सकती है। ऐसे व्यक्ति भी हैं, जो यह विश्वास करते हैं कि व्यक्तिवाद ही आर्थिक प्रजातंत्र का उत्तम रूप है; ऐसे भी हैं जो समाजवादी राज्य को आर्थिक प्रजातंत्र का सर्वोत्तम रूप समझते हैं; ऐसे भी हैं जो साम्यवादी विचारों को आर्थिक प्रजातंत्र का बिल्कुल ठीक रूप समझते हैं।

यह सोचते हुये कि ऐसी अनेकों विधियां हैं, जिनके द्वारा आर्थिक प्रजातंत्र की स्थापना की जा सकती है, हमने जानबूझ कर निदेशक सिद्धांतों में ऐसी भाषा का प्रयोग किया है, जो निश्चित अथवा कठोर नहीं है। भिन्न-भिन्न विचारधारा के लोगों के लिये आर्थिक प्रजातंत्र के आदर्श को प्राप्त करने, अपनी विधि के अनुसार प्रयास करने, निर्वाचकगणों से यह आग्रह करने, कि आर्थिक प्रजातंत्र को प्राप्त करने का यही सर्वोत्तम मार्ग है, अर्थात् जिस प्रकार से वे काम करना चाहें उसी प्रकार से कार्य करने का पूरा-पूरा अवसर प्रदान करने के संबंध में हमने काफी गुंजाइश रखी है।

महोदय, यही कारण है कि भाग 4 के अनुच्छेदों की भाषा इस रूप में रखी गई है जिस रूप में प्रारूप-समिति ने उसको उत्तम समझा है। किसी ऐसी वस्तु को, जो कठोर नहीं है, परिवर्तन जिसका मौलिक गुण है और जिसे परिस्थिति तथा समय के अनुरूप परिवर्तनशील होना चाहिये, उसे निश्चित तथा कठोर रूप देने से कोई लाभ नहीं हो सकता। अतः यह कहने से कोई लाभ नहीं कि निदेशक सिद्धांतों का कोई मूल्य नहीं है। मेरे विचार से निदेशक सिद्धांतों का बड़ा मूल्य है, क्योंकि वे बताते हैं कि हमारा आदर्श, आर्थिक प्रजातंत्र है।

संविधान में हमने जानबूझकर निदेशक सिद्धांतों का समावेश किया है और हमने ऐसा इसलिये किया है, क्योंकि हम यह नहीं चाहते थे कि इस संविधान में विहित विविध शासन प्रणालियों द्वारा हम एक कोरे तथा ऐसे संसदीय प्रजातंत्र की स्थापना करें, जिसे हमने यह निदेश न दिया हो कि हमारा आर्थिक आदर्श क्या है और हम ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहते हैं। मेरे विचार से यदि वे मित्र, जो इस प्रश्न पर उत्तेजित हो गये हैं, उस

बात को ध्यान में रखें, जो मैंने अभी उनके सामने रखी है, अर्थात् इस संविधान के निर्माण में हमारे उद्देश्य दो हैं—(1) राजनैतिक प्रजातंत्र का स्वरूप निर्धारण करना; (2) यह निर्धारण करना कि हमारा आदर्श आर्थिक प्रजातंत्र है तथा यह भी निर्धारण करना कि प्रत्येक सरकार का जो सत्ता में हो, यह प्रयास होगा कि वह आर्थिक प्रजातंत्र की स्थापना करे तो बहुत से मिथ्याभ्रम, जिससे अनेकों सदस्य ग्रस्त हैं, दूर हो जायेंगे।

मित्र श्री त्यागी ने मुझ से अनुरोध किया है कि 'प्रयास' शब्द तथा अन्य ऐसे पदों को निकाल दिया जाये। मेरे विचार से हमने 'प्रयास' शब्द का जिस कारण से प्रयोग किया है, उसको उन्होंने गलत समझा है। मेरे विचार से 'प्रयास' शब्द, जो कि संविधान प्रारूप में आया है, बड़ा ही महत्वपूर्ण है। हमने इसका इसलिए प्रयोग किया है कि हमारा यह अभिप्राय है कि यदि ऐसी परिस्थितियां भी आ जायें, जब कि इन निदेशक सिद्धांतों का पालन करने के लिये सरकार के मार्ग में रुकावटें अथवा बाधायें हों, तो भी उन विषम परिस्थितियों में इन आदेशों को पूर्ण करने का वह प्रयास करे। इसलिये ही हमने 'प्रयास' शब्द का उपयोग किया है। यदि ऐसा न हो तो सरकार यह कह सकती है कि परिस्थितियां इतनी बुरी थीं, धन इतना अपर्याप्त था कि हम संविधान के अनुसरण करने का प्रयत्न तक नहीं कर सकते हैं। मैं समझता हूं कि मेरे मित्र त्यागी यह विचार करेंगे कि इस प्रसंग में 'प्रयास' शब्द बहुत महत्वपूर्ण है और उसको निकालना बहुत बड़ी त्रुटि होगी।

13

समान आचार संहिता के संबंध में*

मेरे मित्र मि० हुसैन इमाम ने अनुच्छेद 35** में संशोधनों का समर्थन करते समय पूछा था कि क्या इतने वृहद् देश के लिये कानूनों की समान आचार संहिता बनाना संभव तथा वांछनीय है? मुझे स्वीकार करना होगा कि मुझे उस बात पर बहुत आश्चर्य हुआ क्योंकि हमारे यहां इस देश में मानवीय संबंधों के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में कानूनों की समान संहिता है। हमारे यहां दण्ड विधान में समान तथा संपूर्ण आपराधिक कानून निहित है जो सारे देश में लागू है और एक आपराधिक विधि संहिता भी है। हमारे यहां संपत्ति हस्तांतरण का कानून है जो सम्पति के संबंधों के विषय में है तथा सारे देश में लागू है। इसके अतिरिक्त परक्राम्य लिखित अधिनियम है और मैं असंख्य अधिनियमों के उदाहरण दे सकता हूं जिनसे यह सिद्ध हो जायेगा कि इस देश में व्यावहारिक रूप में लगभग एक ही आचार संहिता है, जो समान तथा समस्त देश में लागू है। अब तक केवल एक क्षेत्र सिविल विधि हस्तक्षेप नहीं कर सकी है, यह विवाह तथा उत्तराधिकार का क्षेत्र है। यही एक छोटा सा कोना है जिसमें हम अब तक हस्तक्षेप नहीं कर सके है और जो लोग अनुच्छेद 35** को विधान का भाग बनाना चाहते हैं उनकी इच्छा यही सुधार करने की है। अतएव यह जो तर्क पेश किया गया है कि हमें ऐसा करना चाहिये या नहीं, वहां मुझे अनुपयुक्त दिखाई देता है क्योंकि हमने वास्तव में उन सब विषयों पर कानून बना दिये हैं जो कि इस देश में समान आचार संहिता में निहित होते हैं। अतएव अब यह पूछने का समय बीत चुका है कि क्या हम ऐसा कर सकते हैं? मेरा कहना है कि हम ऐसा पहले ही कर चुके हैं।

संशोधनों के विषय में मैं केवल दो ही बातें कहना चाहता हूं। मुझे पहली बात यह कहनी है कि जिन सदस्यों ने यह संशोधन रखे हैं वे कहते हैं कि मुसलमानों का निजी कानून, जहां तक इस देश का संबंध है, सारे भारत में अटल तथा समान था मैं इस

---

*संविधान सभा वाद-विवाद, खंड 7, 24 नवम्बर, 1948, पृ॰ 809

**अनुच्छेद 49, अनुच्छेद 50

कथन को चुनौती देना चाहता हूं। मेरे विचार में मेरे अधिकांश मित्र, जो कि इस संशोधन पर बोले हैं, सर्वथा यह भूल गये कि सन् 1935 तक पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत में शरीयत कानून लागू नहीं था। उत्तराधिकार तथा अन्य विषयों में वहां हिन्दू कानून का अनुसरण किया जाता था, यहां तक कि 1939 में केन्द्रीय विधान मंडल को इस विषय में हस्तक्षेप करना पड़ा तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के मुसलमानों पर हिंदू कानून का लागू होना बंद करवा कर वहां शरीयत कानून लागू कराना पड़ा। केवल इतना ही नहीं मेरे माननीय मित्र भूल गये कि 1937 तक पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के अतिरिक्त शेष भारत के भी विभिन्न भागों में, यथा संयुक्तप्रांत, मध्यप्रांत तथा बम्बई में उत्तराधिकार के विषय में काफी हद तक मुसलमानों पर हिन्दू कानून लागू था। उन्हें दूसरे मुसलमानों के साथ जोकि शरीयत पर चलते थे, एक स्तर पर लाने के लिये 1937 में विधान मंडल को हस्तक्षेप करना पड़ा तथा शेष भारत पर शरीयत कानून लागू करने के लिये एक कानून बनाना पड़ा।

मेरे मित्र श्री करूणाकर मैनन ने मुझे बताया कि उत्तरी मालाबार में मरूमकतायम कानून केवल हिंदुओं पर ही नहीं मुसलमानों पर भी लागू था। स्मरण रखना चाहिये कि मरूणकतायम कानून मातृ-प्रधान कानून है पितृ-प्रधान कानून नहीं।

अतएव उत्तरी मालाबार में मुसलमान अब तक मरूमकतायम कानून का अनुसरण करते थे। अतएव ऐसा कहने से कोई लाभ नहीं है कि मुस्लिम कानून एक अटल कानून है जिसका वे प्राचीन समयों से अनुसरण करते रहे हैं। वह कानून उस रूप में कुछ भागों में लागू नहीं था और दस वर्ष पहले लागू किया गया था। अतएव यदि यह आवश्यक जान पड़े कि समस्त नागरिकों पर उनके धर्म का विचार न करते हुए एक ही सिविल संहिता लागू करने के लिये अनुच्छेद 35 में निर्देशित नयी सिविल संहिता में हिंदू कानून के कुछ अंश रख दिये गये हैं—इसलिये नहीं कि वे हिन्दू कानून के अंश है किंतु इसलिए कि वे सर्वाधिक उपयुक्त जान पड़ते हैं—तो मुझे विश्वास है कि किसी मुसलमान को यह कहने का अधिकार नहीं होगा कि सिविल संहिता के बनाने वालों ने मुस्लिम जाति की भावनाओं के प्रति कठोरता बरती है।

मेरी दूसरी बात यह है कि मैं उन्हें आश्वासन देना चाहता हूं। इस विषय पर उनकी भावनाओं को मैं पूर्णतः समझता हूं किन्तु मेरे विचार में उन्होंने अनुच्छेद 35 का बहुत खींच तान कर आशय निकाला है। इस अनुच्छेद में केवल यही सुझाव है कि राज्य देश के नागरिकों के लिये एक सिविल संहिता के निर्माण का प्रयत्न करेगा। यह ऐसे नहीं कहता कि संहिता के निर्माण के पश्चात राज्य उसे सब नागरिकों पर केवल इसी आधार पर लागू कर देगा कि वे नागरिक हैं। यह सर्वथा संभव है कि भावी संसद शुरूआत करने हेतु कोई प्रावधान कर दे कि यह संहिता केवल उन्हीं व्यक्तियों पर लागू होगी जो यह

घोषणा करेंगे कि वे इसका पालन करने के लिए तैयार हैं ताकि शुरू में यह संहिता पूर्णरूप से ऐच्छिक आधार पर लागू की जा सके। संसद ऐसा आधार किसी अन्य तरीके से उपलब्ध करा सकती है। यह कोई नया तरीका नहीं है। इसे 1937 के शरीयत अधिनियम में अपनाया गया था जब इसे पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत को छोड़कर अन्य क्षेत्रों पर लागू किया गया था। कानून में कहा गया था कि यह शरीयत कानून है जो मुसलमानों पर लागू होना चाहिये बशर्ते कि वह मुसलमान जो शरीयत कानून का पालन करना चाहता है राज्य के किसी अधिकारी के सामने यह घोषणा करे कि वह इसका पालन करेगा और इस प्रकार की घोषणा करने के पश्चात वह और उसके उत्तराधिकारी इस कानून से बंध जायेंगे। संसद के लिये यह सर्वथा संभव है कि वह इस प्रकार का उपबंध पुरःस्थापित करे, जिससे कि यहां मेरे मित्रों ने जो आशंका प्रकट की है वह सर्वथा मिथ्या हो जाये।

न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग करने के संबंध में*

मैं नहीं समझता कि जो संशोधन मैंने पेश किया है उसके समर्थन के लिये मुझे किसी लम्बे विवरण में जाने की आवश्यकता है। दीर्घ काल से इस देश की यह इच्छा रही है कि न्यायपालिका, कार्यपालिका से अलग हो जाये और इस मांग को हम ठीक जब से कांग्रेस की स्थापना हुई थी, तभी से रखते चले आये हैं। दुर्भाग्य से ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस के उन संकल्पों पर कोई अमल नहीं किया, जिनके द्वारा वह देश के प्रशासन में इन सिद्धांतों के पुरःस्थापन की मांग रखती आई थी। हम समझते हैं कि अब समय आ गया है, जब यह सुधार किया जाये। निस्संदेह यह समझ लिया गया है कि इस सुधार को करने में कुछ कठिनाइयां अवश्य होंगी। परिणामस्वरूप इस संशोधन द्वारा दो विशेष विषयों पर विचार किया गया है, जो कि कठिनाई के विषय समझे जा सकते हैं। एक यह है कि: हमने इसे जानबूझ कर मौलिक सिद्धांतों का विषय नहीं बनाया है क्योंकि यदि हम इसे मौलिक सिद्धांतों का विषय बना देते तो संविधान के स्वीकृत होते ही हमारे लिये तुरंत ही यह परमावश्यक हो जाता है कि न्यायपालिका और कार्यपालिका को अलग करें। इसलिये हमने जान-बूझ कर इस विषय को निदेशक सिद्धांतों के अध्याय में रखा है और उसमें भी हमने यह व्यवस्था की है कि इस सुधार को तीन वर्ष में किया जायेगा, इसलिये कि इस बात के लिये कोई गुंजाइश न रहे कि ऐसे विषयों को टाल दिया जाये।

"अनुच्छेद 39** के पश्चात निम्न नया अनुच्छेद जोड़ दिया जाये:"

"39 क—** राज्य ऐसे प्राप्त करने की कार्यवाही करेगा कि इस विधान के लागू होने से तीन वर्ष की अवधि के अंतर्गत राज्य की लोक सेवाओं में न्यायाधीश वर्ग का अधिशासी वर्ग से पार्थक्य हो जाय।"

---

*संविधान सभा वाद-विवाद, खंड 7, 24 नवम्बर, 1948, पृ॰ 809

**अनुच्छेद 49, अनुच्छेद 50

15

सरकारी नौकरियों में समान अवसर दिये जाने के संबंध में*

यहां कई सदस्यों की यह भावना है कि जब हमने सम्पूर्ण देश के लिए एकल नागरिकता की व्यवस्था की है और इसमें प्रान्तों या रियासतों के अधिकार क्षेत्र को लेकर कोई भेदभाव नहीं बरता है तो इसके साथ यह भी होना चाहिए कि भारतीय संघ के किसी भी राज्य में कोई पद धारण करने के लिए निवास सम्बन्धी कोई प्रतिबन्ध लागू न किया जाये; क्योंकि जिस मात्रा तक आप निवास सम्बन्धी प्रतिबन्ध लागू करेंगे, उसी मात्रा तक एकता नागरिकता का महत्व कम हो जायेगा, जिसे संविधान द्वारा हमने समस्त देश के लिए रखा है, या रखना चाहते हैं। इसलिए मेरी राय में यह तर्क कि राज्याधीन नौकरियों में नियुक्ति के लिए निवास सम्बन्धी कोई प्रतिबन्ध लागू न करना चाहिए, बिल्कुल सही है और ठोस तर्क है। किन्तु, साथ ही हमें यह भी समझना चाहिए कि ऐसे लोग जो एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में, एक राज्य से दूसरे राज्य में उड़ती चिड़िया की तरह सदा चक्कर काटा करते हैं, जिनका न उस प्रान्त से कोई खास सम्बन्ध है, न वहां कोई जरिया है, उनको हम यह अनुमति नहीं दे सकते कि वह वहां आवें, पद के लिए आवेदन करें और फिर अपना काम बना कर वहां से चलते बनें। इसलिए निवास सम्बन्धी कुछ न कुछ प्रतिबन्ध तो रखना ही होगा। जब इस प्रश्न पर छानबीन की गई तो पता चला कि अब भी कई प्रांतों में वहां की सरकारों ने ऐसे नियम बना दिए हैं जिनके द्वारा उस प्रान्त में किसी भी पद पर नियुक्त किए जाने के लिए वहां का एक नियतकाल का वासी होना आवश्यक है, इसलिए संशोधन में यह प्रस्तावित है कि आमतौर पर किसी पद के लिए निवास सम्बन्धी प्रतिबन्ध न होना चाहिए, किन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में कुछ अपवाद तो बरता ही जा सकता है और यह असंगत नहीं है। हम तो केवल उसी प्रथा पर चल रहे हैं जो कि कई प्रांतों में अरसे से चलती आ रही है। किन्तु इस सम्बन्ध में हमने यह देखा कि भिन्न भिन्न प्रांतों में अभ्यर्थी के लिए निवास सम्बन्धी एक अवधि तो निश्चित कर दी गई है। पर सब प्रांतों में एक सी अवधि नहीं रखी गई है और उसमें काफी अंतर है। कुछ प्रांतों में ऐसा नियम है कि अभ्यर्थी के लिए यह जरूरी है कि वह उस प्रांत में जन्म गया हो।

---

*संविधान सभा वाद विवाद, खंड सात, 30 नवम्बर, 1948, पृष्ठ 1062-67

इसका क्या मतलब है, यह समझ में नहीं आता। दूसरों ने 10 वर्ष का निवासी होना जरूरी ठहराया है और कइयों ने सात वर्ष की ही अवधि रखी है। इसलिए ऐसा अनुभव किया गया कि निवास-सम्बन्धी पात्रता तो वांछनीय है, पर निवास सम्बन्धी जो भी प्रतिबन्ध हो वह समस्त भारत में एक समान होना चाहिए। परिणामतः यदि आपका उद्देश्य यह है कि सर्वत्र निवास-सम्बन्धी अवधि एक सी हो तो इसकी प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि इसको नियत करने का अधिकार आप संसद को दें, न कि किसी इकाई को चाहे वह प्रान्त हो या रियासत। इस संशोधन में निवास सम्बन्धी जो शर्त रखी गई है उसके पीछे मूल अभिप्राय यही है।

*** *** ***

अब मैं उस प्रश्न की ओर आता हूं जिसको लेकर यहां सदस्यों में बहुत हलचल है अर्थात् अनुच्छेद 10(3)* में प्रयुक्त पिछड़ा शब्द को लेता हूं। शुरू में ही मैं कुछ सामान्य बातें कह देना चाहता हूं ताकि सदस्य यह समझ जायें कि "पिछड़ा" शब्द का ठीक ठीक क्या प्रयोजन है, क्या महत्व है और इसे इस विशेष खंड में रखने की क्या जरूरत थी। यदि सदस्य इस विषय पर आपस में मतों का आदान प्रदान करें और इसे समझने की चेष्टा करें तो उन्हें पता चलेगा कि इस संबंध में तीन दृष्टिकोण विद्यमान हैं और इन तीनों को ही अपनाना पड़ेगा, अगर हमें कोई व्यवहार्य योजना तय करनी है, जो सभी को मान्य हो। इनमें पहला दृष्टिकोण यह है कि सभी नागरिकों को अवसर-समता प्राप्त होनी चाहिए। इस सभा के अनेक सदस्यों की यह इच्छा है कि प्रत्येक व्यक्ति को, जो किसी विशेष पद के लिए योग्य हो, इस बात की आजादी होनी चाहिए कि वह उसके लिए आवेदन कर सके, परीक्षा में बैठ सके और यह निश्चित करने के लिए कि वह पद के योग्य है या नहीं, उसकी योग्यता की जांच होनी चाहिए और इस सम्बन्ध में अवसर-साम्य के सिद्धान्त को अमल में लाने पर कोई प्रतिबन्ध, कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। दूसरा दृष्टिकोण जो अधिकतर सभा के एक वर्ग का है वह यह है कि किसी वर्ग या सम्प्रदाय के पक्ष में किसी प्रकार की आरक्षण की व्यवस्था न होनी चाहिए और सभी नागरिकों को अगर वह योग्य हैं तो जहां तक सरकारी नौकरियों का सम्बन्ध है, समान रूप से अवसर मिलना चाहिए। अगर हमें यह सिद्धान्त बरतना है तो उनकी राय है कि हमें इसे पूर्णतया बरतना चाहिए। फिर एक तीसरा दृष्टिकोण हमारे समक्ष है और इसके पीछे एक बड़ा जनमत है। यह पक्ष इस बात पर जोर देता है कि इस सैद्धान्तिक दृष्टि से अवसर-समता का सिद्धान्त बहुत ही अच्छा है, किन्तु फिर भी नियुक्तियों में उन कतिपय सम्प्रदायों को स्थान देने के लिए हमें एक न एक व्यवस्था करनी ही चाहिए जिन्हें अब

---

* अनुच्छेद 16

तक शासन कार्य से सदा अलग ही रखा गया है। जैसा कि मैं बता चुका हूं, मसौदा समिति को एक ऐसा फार्मूला तैयार करना था ताकि ये तीनों दृष्टिकोण मान्य हों। अगर माननीय सदस्यगण इस तथ्य पर ध्यान दें कि इन तीनों दृष्टिकोणों को ग्राह्य बनाने के लिए अनुच्छेद 10(3) में जो फार्मूला रखा गया है उससे और अच्छा कोई रास्ता निकाला ही नहीं जा सकता था। वह देखेंगे कि अनुच्छेद 10 के खंड (1) में उन लोगों के विचार को स्थान दिया गया है जिसका अवसर-समता के सिद्धान्त में प्रबल विश्वास है। इस सिद्धान्त को व्यापक मान्यता दी गई है। किन्तु इसके साथ ही, जैसा कि मैं बता चुका हूं, इस फार्मूले को कतिपय सम्प्रदायों की इस मांग के साथ भी हमें बैठाना था कि शासन का नियंत्रण अब तक ऐतिहासिक कारणों से एक सम्प्रदाय या चन्द सम्प्रदाय ही के लोग करते आ रहे थे और अब इस स्थिति का अन्त होना चाहिए। और दूसरों को भी सरकारी नौकरियों में स्थान पाने का अवसर मिलना चाहिए। अब जरा उदाहरण के लिए यह मान लीजिए हम उन लोगों की मांग को पूर्णतः मान लेते हैं जिन्हें अब तक सरकारी नौकरियों में पूरी-पूरी जगह नहीं दी जाती थी। इसका परिणाम यह होगा कि हम उस पृथक सिद्धान्त का अर्थात् अवसर-समता के सिद्धान्त का पूर्णतः हनन कर देंगे जिस पर हम सभी एकमत हैं। मैं आपको उदाहरण देकर समझाऊंगा। मान लीजिए कि एक सम्प्रदाय या कई सम्प्रदायों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई जिसके अनुसार राज्य में कुल जगहों का 70 प्रतिशत उनके लिए सुरक्षित रख दिया गया अब बच जाती हैं 30 प्रतिशत जगहें, जो शेष लोगों के लिए होंगी। क्या कोई भी व्यक्ति यह मंजूर करेगा कि 30 प्रतिशत जगहें खुली प्रतियोगिता के लिए रखना अवसर-समता के सिद्धान्त को अमली रूप देने के ख्याल से ठीक है? मेरी राय में तो यह ठीक नहीं होगा। इसलिए अगर आपको जगहें आरक्षित रखनी हैं और इस व्यवस्था को अनुच्छेद 10(1) के अनुरूप रखना है तो इसे कम जगहों तक ही सीमित रखिए। ऐसा होने पर ही अवसर-समता के सिद्धान्त को संविधान में वास्तविक स्थान मिल सकेगा और वह व्यवहार में आ सकेगा। हमें दो बातों का ख्याल रखना है, एक तो अवसर-समता के सिद्धान्त को भी जगह देना है और साथ ही उन अन्य सम्प्रदायों की मांगों को भी सन्तुष्ट करना है जिन्हें राज्य की नौकरियों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व अब तक नहीं मिलता रहा है। यदि माननीय सदस्यवृन्द इस स्थिति को समझते हैं तो मुझे पूरा विश्वास है कि वह इससे सहमत होंगे कि "पिछड़ा" जैसा कोई प्रतिबन्ध मूलक शब्द अगर न रखा गया तो हमने आरक्षण के पक्ष में जो अपवाद रखा है वह इस नियम को व्यर्थ कर देगा। यही कारण है कि मसौदा समिति ने अपनी जिम्मेदारी पर यह "पिछड़ा" शब्द रखा है जो, मैं मानता हूं, इस सभा द्वारा स्वीकृत मूलाधिकारों में पहले नहीं रखा गया था। मसौदा-समिति का अनेक कारणों के आधार पर कभी यह कहकर उपहास किया गया है कि इसने जो मसौदा बनाया है उसकी बन्दिश इतनी

ढीली-ढाली है कि अर्थ में काफी खींचातानी की जा सकती है। कभी यह कह कर उपहास किया गया है कि यह मसौदा उपयुक्त नहीं, ऐसा नहीं है, वैसा नहीं है। मेरा ख्याल है कि माननीय सदस्यगण जरूर यह जानते होंगे कि अगर मसौदा समिति यह शब्द न रखती तो, इस आधार पर उसकी और भी आलोचना की जाती कि इसने जो मसौदा बनाया है उसमें अपवाद इतने हैं कि मूल नियम प्रभावी बनने के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रह गई है। "पिछड़ा" क्यों रखा गया है, इसके औचित्य प्रदर्शन के लिए मेरी समझ से, यह काफी है।

अल्पसंख्यकों के सम्बन्ध में अनुच्छेद 296* में विशेष उल्लेख किया गया है, जहां यह कहा गया है कि उनके लिए कोई न कोई व्यवस्था जरूर की जायेगी। अवश्य ही इसके लिए हमने कोई अनुपात नहीं निश्चित किया। यह तो उस धारा से साफ जाहिर है पर ऐसी बात नहीं है कि अल्पसंख्यकों का हमने बिल्कुल ख्याल ही न किया हो। किसी सज्जन ने मुझसे यह पूछा कि आखिर "पिछड़ा" वर्ग कौन है? मेरा ख्याल है कि जो कोई भी मसौदे की भाषा को पढ़ेगा उसे यह मालूम हो जायेगा कि हमने इसके निर्णय का भार प्रत्येक स्थानीय शासन पर ही छोड़ दिया है। जो वर्ग हुकूमत की दृष्टि में पिछड़ा हुआ है वह "पिछड़ा" वर्ग माना जायेगा। मेरे माननीय मित्र श्री टी० टी० कृष्णमाचारी ने यह पूछा है कि क्या इस नियम को अमल में लाने के लिए न्यायालय में अपील की जा सकती है; इस सम्बन्ध में अधिकृत रूप से कोई उत्तर देना जरा कठिन है। मेरा व्यक्तिगत मत यह है कि इसको अमल में लाने के लिए न्यायालय में अपील की जा सकती है। अगर किसी स्थानीय सरकार ने इस आरक्षण की श्रेणी में बहुसंख्यक जगहों को शामिल कर लिया है तो मैं समझता हूं कि कोई भी व्यक्ति संघ न्यायालय या उच्चतम न्यायालय में जाकर यह कह सकता है कि इतनी अधिक आरक्षित जगहें रख दी गई हैं कि उसे अवसर-समता के नियम का ही हनन कर दिया गया है और तब न्यायालय यह निर्णय करेगा कि स्थानीय शासन या राज्य शासन ने उचित और विवेक से कार्य किया है या नहीं। श्री कृष्णमाचारी ने यह पूछा है कि कौन "समझदार" (रीजनेबल) पुरुष है, और कौन विवेकी (प्रूडेंट) पुरुष है, यह तो मुकदमेबाजी की बातें हुईं। अवश्य ही इन बातों को लेकर मुकदमें चलते हैं, किन्तु मेरे माननीय मित्र श्री कृष्णमाचारी को मालूम होगा कि "समझदार" और "विवेकी पुरुष" का प्रयोग अनेक कानूनों में हुआ है और अगर वह सम्पत्ति हस्तान्तरण संबंधी अधिनियम देखें तो उन्हें पता चलेगा कि कई बातों के सम्बन्ध में "समझदार" और "विवेकी पुरुष" की इतनी विषद परिभाषा की गई है कि न्यायालय को इसकी परिभाषा देने में कोई कठिनाई न होगी।

---

*अनुच्छेद 335

16
संवैधानिक उपचारों के संबंध में*

सर्वोच्च न्यायालय को निदेश तथा आदेश देने के अधिकार तो हैं ही, संविधान के मसौदे में विशेष 'रिट्स' की भी चर्चा करना वांछनीय समझा गया है। विशेष 'रिट्स' की चर्चा और उल्लेख करने की आवश्यकता भी सर्वथा स्पष्ट है। ये 'रिट्स' कई वर्षों से ग्रेट ब्रिटेन में लागू हैं। उनकी विशेषतायें और उनसे जो लाभ हैं उन्हें प्रत्येक वकील जानता है, अतः हमने सोचा कि जिस प्रकार अत्यन्त कल्पनाशील लोगों के लिये भी कोई नई चीज का अविष्कार करना असम्भव है, इन 'रिट्स' में उसी प्रकार सुधार करने की संभावना भी बहुत ही कम है; इन 'रिट्स' का अस्तित्व कदाचित् हज़ारों वर्षों से है, और अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के विषय में प्रत्येक अंग्रेज को इनसे पूर्ण सन्तोष है। अतएव हमने सोचा था कि इन 'रिट्स' का, हमारे संविधान में उनके नाम से उल्लेख होना चाहिये, जो कि अंग्रेजी कानून-व्यवस्था में है, और यदि मैं ऐसा कह सकता हूं तो, उनके सामने धोखे अथवा चालाकी की दाल नहीं गल सकी है, पर इससे सर्वोच्च न्यायालय के इस अधिकार पर प्रभाव नहीं पड़ेगा कि वह यदि वांछनीय समझे तो अन्य प्रकार से भी न्याय कर सकता है। इसलिये मैं कहता हूं कि श्री कामत को उस विषय पर शिकायत करने का कोई आधार नहीं होना चाहिये।

मेरे मित्र श्री सरवटे ने कहा था कि इस अनुच्छेद** के अधीन प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते समय न्यायालय को मामले के तथ्यों की जांच करने की भी स्वतंत्रता होनी चाहिये। मुझे इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि श्री सरवटे ने इन रिट्स के स्वरूप तथा क्षेत्र को गलत समझा है। अतएव मैं इन 'रिट्स' का स्पष्टीकरण देना आवश्यक नहीं समझता। जिसे अंग्रेजी कानून का जरा भी ज्ञान है वह इस बात को समझ जायेगा तथा मान लेगा कि इस अनुच्छेद में उल्लिखित रिट्स दो श्रेणी के हैं। एक तो विशिष्ट अधिकार के 'रिट्स' (Prerogative Writs) होते हैं और दूसरे दावे वाले 'रिट्स' (Writs in action) होते है। परमादेश की रिट, प्रतिबन्ध की रिट, उत्प्रेषण रिट दोनों प्रकार

---

*संविधान सभा वाद-विवाद, खण्ड सात, 9 दिसम्बर, 1948, 11952-954

**अनुच्छेद 25 अब अनुच्छेद 32

से काम में आ सकते हैं अथवा मांगे जा सकते हैं; वे विशिष्ट अधिकार के 'रिट्स' के रूप में प्रयोग किये जा सकते हैं तथा किसी मुकदमे के दौरान में मुकदमे वाला उनके लिए आवेदन-पत्र दे सकता है। इस अनुच्छेद में जिन 'रिट्स' की चर्चा है उनका महत्व यह है कि वे विशिष्ट अधिकारों के 'रिट्स' हैं; कोई उत्पीड़ित बिना मुकदमा अथवा दावा दायर किये ही इस प्रकार की 'रिट्स' के लिये प्रार्थना कर सकता है। साधारणतः आपको दावा करना पड़ता है तभी आपको न्यायालय से किसी प्रकार का आदेश मिल सकता है चाहे वह परमादेश, प्रतिबन्ध उत्प्रेषण अथवा किसी अन्य प्रकार की रिट हो। किन्तु जहां तक इस अनुच्छेद का संबंध है, आपको कोई दावा करने की आवश्यकता नहीं है, आप सीधे न्यायालय जाकर रिट के लिये आवेदन-पत्र दे सकते हैं। वास्तव में रिट का उद्देश्य अन्तरिम सहायता देना है। उदाहरणार्थ, यदि कोई मनुष्य पकड़ा जाये, तो पकड़ने वाले अधिकारी के विरुद्ध कोई दावा अथवा कार्यवाही किये बिना ही, वह न्यायालय में प्रार्थना-पत्र दे सकता है कि उसे स्वतन्त्र किया जाये। उसके लिये उस अधिकारी के विरुद्ध दावा अथवा कार्यवाही करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी कार्यवाही में जब कि विशिष्ट अधिकार के रिट के लिये ही आवेदन-पत्र दिया जाये, तो न्यायालय केवल इतना ही कर सकता है कि वह यह पता लगाये कि गिरफ्तारी कानून के अनुसार हुई है अथवा नहीं। उस समय न्यायालय इस प्रश्न पर विचार नहीं करेगा कि वह कानून, जिसके अधीन वह मनुष्य गिरफ्तार किया गया है, अच्छा है अथवा बुरा, या वह संविधान के किसी प्रावधान के विपरीत जाता है अथवा नहीं। बन्दी प्रत्यक्षीकरण की कार्यवाही में न्यायालय केवल इतना ही मालूम कर सकता है कि क्या वह गिरफ्तारी वैध है, और उस समय कानून के गुणावगुण पर विचार नहीं करेगा—कम से कम न्यायालय की प्रणाली तो यही है। जब एक मनुष्य वास्तव में गिरफ्तार किया जाये तथा उसका मुकदमा आरम्भ हो जाये, तब उस कार्यवाही के मध्य न्यायालय को तथ्य सम्बन्धी खोज करने का अधिकार होगा और यह भी निश्चित करने का अधिकार होगा कि जिस कानून-विशेष के अधीन उस व्यक्ति को गिरफ्तार किया गया है वह कानून ठीक है अथवा नहीं है। तब न्यायालय इस प्रश्न पर विचार करेगा कि यह संविधान के प्रावधानों के विपरीत तो नहीं है। अतः मेरे मित्र श्री वी०एस० सरवटे ने जो संशोधन रखा था, यदि मैं ऐसा कह सकता हूं, तो वह यहां सर्वथा असंगत है ऐसा प्रावधान यहां नहीं रखा जा सकता। यदि वे अनुच्छेद 115 को पढ़ेंगे तो वे देखेंगे कि ऐसे 'रिट्स' के लिये वहां प्रावधान रखा गया है। पर वे ऐसे 'रिट्स' हैं जो कि तथ्य तथा कानून के प्रश्नों के सम्बन्ध में निकाले जा सकते हैं। निस्संदेह न्यायालय उनके विषय में जांच कर सकते हैं।

श्रीमान् मुझे हर्ष है कि इस अनुच्छेद पर जितने लोग बोले हैं, उनमें से अधिकांश ने इस अनुच्छेद के महत्व तथा मूल्य को समझा है। यदि मुझे ऐसे एक अनुच्छेद का नाम

---

*अनुच्छेद 139

लेने के लिये कहा जाए, जो कि सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जिसके बिना समस्त संविधान प्रभावहीन है, तो मैं इस अनुच्छेद के अतिरिक्त और किसी का नाम नहीं ले सकता। यह संविधान की आत्मा है, हृदय है और मुझे प्रसन्नता है कि सभा ने इसकी महत्ता को समझा है।

किन्तु एक बात मैं देखता हूं कि इस अनुच्छेद पर बोलने वाले सदस्यों ने इसे अच्छी तरह नहीं समझा है। मैं अपना स्थान लेने से पहले इस की चर्चा करूंगा। इस अनुच्छेद में जिन 'रिट्स' का उल्लेख है वे एक प्रकार से नये नहीं हैं। बन्दी प्रत्यक्षीकरण हमारी आपराधिक प्रणाली संहिता में है। परमादेश रिट का उल्लेख हमारे विनिर्दिष्ट अनुतोष (स्पेसेफिक रिलीफ) के कानून में है और यहां उल्लिखित कई अन्य 'रिट्स' का भी हमारे विभिन्न कानूनों में उल्लेख है। किन्तु इन 'रिट्स' के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति में और इस संविधान के पारित होने के पश्चात् उत्पन्न होने वाली स्थिति में यह अन्तर है कि हमारे विभिन्न कानूनों में उल्लिखित सारे 'रिट्स' विधान मण्डल की कृपा पर अवलम्बित हैं। हमारी आपराधिक प्रणाली संहिता में, जिसमें बंदी प्रत्यक्षीकरण के विषय में एक प्रावधान है, विद्यमान विधान-मण्डल संशोधन किया जा सकता है। विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम भी संशोधित हो सकता है और जिस विधान-मण्डल में कोई बहुमत हो और वह बहुमत एक ही विचार का हो तो बन्दी प्रत्यक्षीकरण तथा परमादेश की रिट को भी बिना किसी कठिनाई के हटाया जा सकता है। आगे से किसी विधान-मण्डल के लिये यह सम्भव नहीं होगा कि वह इस अनुच्छेद में वर्णित 'रिट्स' को मिटा सके। ऐसा नहीं है कि विधान-मण्डल पर छोड़ दिया गया हो कि वह अपनी इच्छा के कानून बनाकर सर्वोच्च न्यायालय को इन 'रिट्स' को जारी करने की शक्ति प्रदान करे। संविधान द्वारा ही यह अधिकार सर्वोच्च न्यायालय में निहित कर दिये गये हैं और इन अधिकारों को तब तक छीना नहीं जा सकता जब तक कि संविधान को ही संशोधित न किया जाये, जिसके लिये कि विधान-मण्डल को साधन दिये गये हैं। मेरे विचार में यह एक अत्यन्त महान अभिरक्षण है जो कि व्यक्ति की सुरक्षा और रक्षा के लिये रखा जा सकता है। अतएव हमें इस बारे में ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए कि इस संविधान में उपबंधित स्वतंत्रताओं को किसी भी विधान-मण्डल का बहुमत प्राप्त दल छीन सकता है।

श्रीमान्, मैं एक बात और कहना चाहता हूं। इस सभा में नीति निर्देशक सिद्धांतों और मूल अधिकारों पर जो वाद-विवाद हुआ है उसमें मैंने उन सदस्यों के भाषणों को सुना है जिन्होंने कि इस बात की शिकायत की है कि हमने किसी अधिकार-विशेष अथवा नीति विशेष को अपने मूल अधिकारों में अथवा अपने नीति निर्देशक सिद्धांतों में नहीं रखा है। रूस के संविधान तथा अन्य देशों के संविधानों का प्रसंग रखा गया है जिनमें कि ऐसी घोषणाओं का समावेश है जिन्हें कि सदस्यों ने अपने संशोधनों द्वारा हमारे संविधान में

रखने का प्रयत्न किया है। श्रीमान् मेरे विचार में उनमें से किसी संशोधन के पेश करने वाले किसी सदस्य को मेरी इस बात से बुरा नहीं मानना चाहिये कि मैं अधिकारों के विषय में ब्रिटिश प्रणाली को अधिक अच्छा समझता हूं। ब्रिटिश प्रणाली एक विशेष प्रणाली है। वह अत्यन्त वास्तविक तथा अत्यन्त समुचित प्रणाली है। ब्रिटिश न्याय-व्यवस्था में इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि ऐसा अधिकार व्यर्थ है जिसके लिये संविधान में उपबंध न हो। वास्तव में उपबंध से ही अधिकार का अस्तित्व होता है। यदि कोई उपबंध न हो तो अधिकार का भी अस्तित्व नहीं होता, और इसीलिये मैं संविधान में ऐसी अनेक सुन्दर घोषणाओं को शामिल नहीं करना चाहता जो कि व्यापक और सुन्दर हों, और जिनके लिये संविधान में कोई उपबंध न हो। बजाय इसके कि हम संविधान में सुन्दर इच्छाओं का समावेश करें, इससे तो यह अधिक अच्छा है कि अपने अधिकारों के क्षेत्र को हम सीमित ही रखें और उनके लिये उपबंध का प्रावधान करके हम उन्हें वास्तविक बना दें। मुझे प्रसन्नता है कि इस सभा ने इस बात को समझा है कि हमने जो उपबंध रखे हैं वे इस संविधान का मूल भाग हैं।

17
कार्यपालिका को विधान मंडल और न्यायपालिका से अलग करने के संबंध में*

मेरे ही प्रस्ताव पर निदेशात्मक सिद्धान्तों में कार्यपालिका और न्यायपालिका को अलग करने के सम्बन्ध में एक प्रावधान को समाविष्ट करने का प्रयास किया गया था। आरम्भ में इस सम्बन्ध में तीन वर्ष की काल-सीमा रखी गई थी। बाद में विचार-विमर्श करने और इस सिद्धान्त को व्यवहार में लाने में जो कठिनाइयां होंगी उन्हें जानने के बाद सभा ने यह निर्णय किया था कि यह काल-सीमा हटा दी जाय और प्रान्तीय सरकारों पर पूर्णतया अधिरोपण करने के लिये यह प्रावधान रखा था कि वे कार्यपालिका और न्यायपालिका को अलग करने के लिये आवश्यक कार्यवाही करें। उस अवसर पर इस पूरे विषय पर विचार-विमर्श हुआ था और मुझे इसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि उस समय मैंने जो कुछ कहा था उसे मैं फिर दुहराऊं। इस सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है कि कार्यपालिका को न्यायपालिका से अलग किया जाय।

जहां तक कार्यपालिका को विधान-मण्डल से अलग करने का प्रश्न है यह सच है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में इस प्रकार से पृथक्करण की व्यवस्था है। परन्तु यदि मेरे मित्र प्रोफेसर शाह ने अमेरिका के संविधान के इस विशेष प्रावधान की हाल में की हुई आलोचना को पढ़ा होता तो उनको विदित होता कि बहुत से अमेरिकन ही अमेरिका के संविधान में कार्यपालिका और न्यायपालिका के पृथक्करण से बहुत असंतुष्ट हैं। अमेरिका के संविधान के बहुत से अध्येताओं ने एक प्रस्ताव यह भी किया है कि कार्यपालिका और विधानमंडल के पृथक्करण का बिल्कुल ही निराकरण कर दिया जाय ताकि अमेरिका में उसी प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जैसे उदाहरणार्थ इंग्लैंड में है। इंग्लैंड में कार्यपालिका और विधान-मण्डल के बीच कोई अन्तर अथवा पृथक्करण नहीं है। यह मत प्रतिपादित किया गया है कि अमेरिका के विधान में कोई ऐसा प्रावधान रखा जाय जिसके अधीन कार्यपालिका के सदस्य प्रतिनिधि-सभा अथवा सीनेट में बैठ सकें। चाहे वे विधान-मण्डल के सभी कार्यों में, जैसे मतदान इत्यादि में, भाग न लें परन्तु वे वहां बैठें,

*संविधान सभा, वाद-विवाद, खण्ड VII, 10 दिसम्बर, 1948, पृष्ठ 967-68

प्रश्नों का उत्तर दें और जिस किसी विषय पर कानूनी बहस हो रही हो उस में भाग लें। इसे ध्यान में रखते हुये यह कहा जा सकता है कि अमेरिकन लोगों को ही इस सम्बन्ध में बहुत संदेह है कि कार्यपालिका और विधान-मण्डल के पूर्णतया पृथक्करण से लाभ हो सकता है अथवा नहीं। मुझे तथा राजनीति-विज्ञान के अध्येताओं को इस सम्बन्ध में बिल्कुल भी सन्देह नहीं है कि संसद का कार्य बहुत जटिल तथा बहुत अधिक विस्तृत है और जब तक कार्यपालिका के सदस्य संसद में बैठ कर सदस्यों का पथ-प्रदर्शन न करेंगे तब तक सदस्यों के लिये उसका काम चलाना कठिन हो जायेगा। किसी कानूनी विषय पर विचार-विमर्श में संसद के सदस्यों के साथ कार्यपालिका के सदस्यों के भी भाग लेने से निस्संदेह यह लाभ होता है कि जटिल विषयों के सम्बन्ध में संसद के सदस्यों का पथ-प्रदर्शन होता है। इसलिये मेरा अपना यह विचार है कि यदि हम कार्यपालिका से विधान-मण्डल को पृथक् करने की अमेरिका की प्रणाली का अनुसरण न करें तो इससे किसी प्रकार के अहित होने की सम्भावना नहीं है।

कार्यपालिका और न्यायपालिका के पृथक्करण के प्रश्न के सम्बन्ध में मैं कह चुका हूं कि इस सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है और मेरी समझ से यह प्रश्न राष्ट्रपति प्रणाली अथवा संसदीय प्रणाली पर निर्भर नहीं है, क्योंकि इसे सभी स्वीकार करते है कि संसदीय प्रणाली में भी कार्यपालिका और न्यायपालिका का पृथक्करण हो सकता है। निदेशात्मक सिद्धान्त सम्बन्धी जिस अनुच्छेद को हमने स्वीकार किया है उसमें भी अपने इस व्यवस्था को स्वीकार किया है।

18
संघीय कार्यपालिका की शक्ति के संबंध में*

श्रीमान, अब मैं बड़े संशोधन पर, जो चाहता है कि केन्द्र को निदेश देने तक का भी अधिकार न हो, अपने विचार आपके सामने रखना चाहता हूं। इसके लिये मैं यह आवश्यक समझता हूं कि मैं इस विशेष विषय के इतिहास को आपके सामने रखूं। मैं यह बात केवल एक तथ्य के रूप में बिना किसी भेदभाव के कहता हूं कि पहिले संशोधन के पक्ष में बोलने वाले सदस्य अधिकतर मुसलमान हैं....।

*** *** ***

जिससे मैंने यह समझा कि प्रत्येक सदस्य जिसका अन्तःकरण है उसे इस परन्तुक का विरोध करना चाहिये। उनके कथन का और कोई अर्थ नहीं हो सकता (हंसी) श्रीमान जैसा कि मैंने कहा था इस परन्तुक पर मुसलमान सदस्यों के इस विचित्र प्रदर्शन के पीछे एक इतिहास है।.....

यह विषय उस गोलमेज सम्मेलन से संबंध रखता है जो सन् 1930 ई० में हुआ था। सन् 1930 ई० के गोलमेज सम्मेलन में जो कुछ हुआ उससे तो लोग परिचित हैं। उनमें से प्रत्येक को यह याद होगा कि उस सम्मेलन में जिन दो प्रमुख दलों का प्रतिनिधित्व हुआ था अर्थात् मुस्लिम लीग और भारत राष्ट्रीय कांग्रेस, उनमें अनेकों वैधानिक महत्व के प्रश्नों पर परस्पर भारी मतभेद था।

एक प्रश्न जिस पर उनमें परस्पर मतभेद था वह प्रान्तीय स्वायत्त-शासन का विषय था। इस सचाई को तो सब लोग समझते थे कि जो संविधान विधि और प्रशासन के क्षेत्रों में भारत की एकता को कायम रखने के लिये बनाया गया हो इसमें प्रान्तों को पूर्ण रूपेण स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। किन्तु इस बारे में मुस्लिम लीग ने ऐसी हठ पकड़ी कि सेक्रेटरी आफ स्टेट को इस बात के लिये मजबूर हो जाना पड़ा कि वह कुछ ऐसी रियायतें मुस्लिम लीग को दे ताकि केन्द्र में किसी न किसी प्रकार के उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिये राजी हो जाये और रियायतों के साथ-साथ उसने एक यह भी रियायत दी कि

*संविधान सभा वाद-विवाद, खण्ड आठ, 30 दिसम्बर, 1948, पृष्ठ संख्या 1945-1951

उसने भारत शासन अधिनियम की धारा 126 में यह खण्ड भी शामिल करा दिया कि समवर्ती सूची में प्रगणित विषयों के बारे में विधान बनाने के संबंध में केन्द्रीय सरकार को केवल इतनी शक्ति होगी कि वह उनके अधीन इकाइयों को निदेश तो दे सकेगी किन्तु इन विषयों का प्रशासन स्वंय अपने द्वारा न कर सकेगी। तर्क यह था कि यदि केन्द्रीय सरकार में हिन्दुओं के आधिपत्य की सम्भावना न होती तो समवर्ती क्षेत्र में किसी विशिष्ट कानून के बारे में केन्द्र द्वारा स्वयं कार्यान्वित करने में मुस्लिम लीग को कोई आपत्ति न होती। मुझे याद है कि गोलमेज सम्मेलन के विवाद में यह बात बहुत ही स्पष्ट रूप में कही गई थी कि सेक्रेटरी आफ स्टेट को यह रियायत इसलिये करनी पड़ी थी कि क्योंकि उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त, पंजाब, बंगाल और कुछ हद तक आसाम जैसे मुस्लिम बहुल प्रान्तों की मुस्लिम लीग सरकारें यह नहीं चाहती थीं कि इस प्रकार का हस्तक्षेप केन्द्र उन क्षेत्रों में भी करे जिनको कि वह बिल्कुल अपने अधिकार के अंतर्गत ही समझती थी। मुझे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि यह एक रियायत मात्र थी। यह बात सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं की गई थी कि समवर्ती विषयों के संबंध में बनाये गये कानून को अमल में लाने के लिये केन्द्र को लेशमात्र भी अधिकार न होगा। अतः मेरा निवेदन यह है कि भारत शासन अधिनियम, 1935 के अधिनियम की धारा 126 में इस बारे में जो विधान रखा गया है वह सिद्धान्त की दृष्टि से उचित नहीं ठहराया जा सकता। उसका औचित्य केवल इसी दृष्टि से है कि वह मुसलमानों के लिये एक रियायत है। अतः इस संशोधन के पक्ष में जो तर्क दिये गये हैं उनको धारा 126 के प्रावधानों की दुहाई दे कर ठीक बताना उचित नहीं है।

श्रीमान, इस बात को, कि भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 126 से इस बारे में जो व्यवस्था की गई थी वह अन्ततः ठीक नहीं थी। इस सचाई को सेक्रेटरी आफ स्टेट ने युद्ध की घोषणा होने के पूर्व बनाये गये कानून के सिलसिले में स्वीकार किया था। माननीय सदस्यों को यह याद होगा कि युद्ध की घोषणा होने के पूर्व संसद ने 126 धारा की एक सहायक धारा 126-क बनाई थी। संसद ने 126क धारा का बनाना आवश्यक क्यों समझा? आपको यह स्मरण होगा कि जहां तक समवर्ती कानून का संबंध है भारत शासन अधिनियम की धारा 126-क ऐसी क्रान्तिवादी धारा है जिससे केवल प्रान्तीय विषयों पर ही कानून बनाने की शक्ति ही केन्द्र को नहीं मिलती वरन् प्रान्तीय तथा समवर्ती विषयों के बारे में प्रशासन को अपने अधिकार में लेने की शक्ति भी केन्द्र को उससे मिल जाती है। यह इसलिये बनाई गई थी कि सेक्रेटरी आफ स्टेट को ऐसा प्रतीत हुआ कि युद्धकाल में देश के प्रशासन के लिये धारा 126 पूर्णतया घातक सिद्ध होगी। अतः मेरा निवेदन यह है कि धारा 126-क जो संकट काल के लिये बनाई गई थी केवल संकट काल में ही प्रयोज्य नहीं है वरन् सामान्य स्थिति तथा सामान्य काल में भी प्रयोज्य है।

अतः सभा से मेरा पहला निवेदन यह है कि जिन परिस्थितियों का मैंने उल्लेख किया है उनके कारण धारा 126 की दुहाई देकर इस दिनों किसी भी तर्क को@ उचित नहीं ठहराया जा सकता। परन्तुक पर विचार करते हुए.....।*** (व्यवधान) ***

यद्यपि यह बात सच है और मैं इसे स्वीकार करता हूं मैं अभी-अभी इतना ही कहने वाला था कि मेरी शिकायत केवल इतनी है कि मुसलमान सदस्यों ने अभी तक मुस्लिम लीग के दृष्टिकोण को नहीं छोड़ा है जिसे उन्हें त्याग देना चाहिये था। वे उन्हीं तर्कों को दोहरा रहे हैं, जो उस समय तक ठीक थे जब तक कि यहां मुस्लिम लीग थी और मुसलमान प्रान्त थे। अब वे ठीक नहीं हैं। मैं नहीं समझ पाता हूं कि मुसलमान अब उन्हें क्यों दोहरा रहे हैं। (बाधायें)

मैं यह कह रहा था कि इस तर्क में कोई सार नहीं है कि हम भारत शासन अधिनियम की धारा 126 में दिए हुए प्रावधानों से पीछे हट रहे हैं। जैसा कि मैं कह चुका हूं वह धारा किसी भी सिद्धान्त पर आश्रित नहीं है।

परन्तुक के पक्ष में मैं दो बातें कहूंगा। पहली बात यह है कि इस परन्तुक में विहित सिद्धान्त के पक्ष में हमें पहिले और देशों के प्रमाण भी हैं जिन देशों में संघानीय संविधान चालू हैं। उनमें इस बारे में पाई जाने वाली स्थिति की पूरी व्याख्या मेरे मित्र टी०टी० कृष्णामाचारी ने कर दी है। अतः इस विषय के संबंध में मैं कुछ कहना नहीं चाहता। परन्तु आस्ट्रेलिया के संविधान से मैं एक उदाहरण दे देता हूं। आस्ट्रेलिया के संविधान में भी ऐसे समवर्ती विषय हैं जिनके बारे में संघ और राज्य की सरकारें कानून बना सकती हैं। आस्ट्रेलिया के संविधान के अंतर्गत कामनवेल्थ पार्लियामेंट को यह अधिकार है कि वह समवर्ती विषय पर कानून बनाये तथा तत्संबंधी प्रशासनिक अधिकार अपने हाथ में ले ले। कानून पर एक महान समृतिज्ञ श्री वाइन्स द्वारा रचित "आस्ट्रेलिया में विधायी तथा अधिशासी शक्तियां" नामक एक प्रसिद्ध पुस्तक में से मैं एक छोटी सी कंडिका आपको पढ़ कर सुनाता हूं। वे यह कहते हैं:

अन्त में हम कामनवेल्थ राष्ट्रों के कानूनों पर आते हैं। लेफ्राय का कहना है कि यदि किसी कानून से इस बारे में कोई बाधा या प्रतिबन्ध न लगा दिया गया हो तो आमतौर से

@ **श्री० पोकर साहिब बहादुर:** श्रीमान आपकी अनुमति से क्या मैं अपने विद्वान मित्र के भ्रमों का निवारण कर सकता हूं? यह विधान वर्तमान भारतीय संघ के लिये बनाया जा रहा है जिसमें कोई भी ऐसा प्रान्त नहीं है जिसमें मुसलमान बहुसंख्या में हो। अतः इस कथन में कोई भी सार नहीं है कि मुस्लिम लीग के हितों के लिये ही मुसलमान सदस्य इस संशोधन को पेश कर रहे हैं। यह बहुत ही भ्रमात्मक तर्क है और एक भ्रम पर आश्रित है। माननीय कानून मंत्री इस बात को भूल जाते हैं कि वर्तमान भारतीय संघ में हम मुसलमानों को इस संशोधन से कोई भी विशिष्ट लाभ नहीं होगा।

कार्यपालिका शक्ति विधायी शक्ति से निकली हुई मानी जाती है किन्तु यह बात कनाडा के लिये ठीक-ठीक कही जा सकती है। जहां विषयों को अलग गिना दिया गया है। और उस कारण केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों को अपनी अलग-अलग विधायी शक्तियां मिली हुई हैं। किन्तु यह आस्ट्रेलिया के लिये ठीक नहीं है। जिन विषयों के बारे में वहां कामनवेल्थ को अनन्य शक्तियां मिली हुई हैं मसलन प्रतिरक्षा के बारे में उन विषयों के बारे में अनुदान करने की कार्यपालिका शक्ति कामनवेल्थ में निहित है। किन्तु समवर्ती शक्तियों के बारे में यह नियम है कि उन पर अमल करने का अधिकार आम तौर पर राज्यों में तब तक निहित रहता है जब तक कि उनके बारे में कामनवेल्थ अपने विधि नहीं बनाती।"

इसका अर्थ यह है कि समवर्ती क्षेत्र में कार्यपालन प्राधिकार तब तक राज्यों के होते हैं जब तक कि कामनवेल्थ कानून बनाने की अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करती। जिस समय भी वह ऐसा करती है उसी समय कानून पर अमल कराने की शक्ति कामनवेल्थ को स्वयं हो जाती है। अतः इस परन्तुक में निर्धारित स्थिति की आस्ट्रेलिया में वर्तमान स्थिति से तुलना करने पर मैं निवेदन कर सकता हूं कि हम किसी भी संघानीय सिद्धान्त का जिसको कि कोई उद्धृत कर सकता है, किसी प्रकार से भी उल्लंघन नहीं कर रहे हैं। श्रीमान मेरा दूसरा निवेदन है इस परन्तुक के लिये जिससे केन्द्र को यह अधिकार मिलता है कि वह किसी विशेष अवस्था में समवर्ती सूची में दिये गये विषयों के सम्बन्ध में बने कानूनों पर अमल कराने की शक्ति अपने हाथ मे ले ले, हमारे पास पर्याप्त औचित्य है। इस बारे में मैं आपको एक या दो उदाहरण देता हूं। संविधान परिषद ने अनुच्छेद 11 स्वीकार कर लिया है जो अस्पृश्यता का अन्त करता है। वह संसद को अस्पृश्यता के अन्त को सार्थक बनाने के लिये उपयुक्त कानून पारित करने का भी अधिकार देता है। मान लीजिये कि अछूतों को अपने नागरिक अधिकारों के प्रयोग करने में बाधा डालने पर अभियोग और कुछ दण्ड विहित करने वाले कानून का केन्द्र निर्माण करता है। मान लीजिये कि ऐसा कोई कानून बना दिया जाता है और मान लीजिये कि किसी विशेष प्रान्त में अस्पृश्यता के अन्त करने के पक्ष में उतनी पवित्र तथा प्रबल भावनायें नहीं हैं और न सरकार की ही इच्छा है कि अछूतों के लिये जिन नागरिक अधिकारों की प्रत्याभूति संविधान देता है वे उनको मिलें तो क्या यह बात तर्क संगत तथा उचित होगी कि अस्पृश्यता के विषय में जिस केन्द्र पर संविधान द्वारा इतना उत्तरदायित्व लादा गया है वह केवल कानून पारित कर दे और हाथ बांधे यह देखता तथा प्रतीक्षा करता रहे कि उन सब विशिष्ट कानूनों पर अमल कराने के विषय में प्रान्तीय सरकारें क्या कर रही हैं? ऐसे कानून पर अमल करने के लिए सम्भवतः अतिरिक्त पुलिस तथा विशेष तन्त्र की स्थापना करनी पड़ेगी ताकि तत्सम्बन्धी संज्ञेय अपराधों का पता लगाया जा सके, मुकदमा चलाया जा

मंत्रिमंडल का सदस्य होने से किसी प्रकार कोई असुविधा अथवा उन मूलभूत सिद्धान्तों का हनन नहीं होता जिन पर संसदीय सरकार आधारित होती है। अतः मेरे विवेकानुसार यह योग्यता सर्वथा अनावश्यक है।

दूसरी शर्त अर्थात् सदस्य के बहुसंख्यक दल का सदस्य होने के संबंध में मेरा ख्याल है कि प्रोफेसर के० टी० शाह की ऐसी कल्पना है या उन्हें ऐसा विश्वास और आशा है कि निर्वाचक, निर्वाचन में सदा एक ऐसे दल को चुनेंगे जो कि बहुमत में होगा और एक अन्य दल को चुनेंगे जो कि अल्पमत में होगा किन्तु विरोध में होगा। अब, ऐसी धारणा बनाना ठीक नहीं होगा। यह सर्वथा संभव और स्वाभाविक होगा, कि किसी निर्वाचन के बाद संसद में कई दल हों, जिनमें से कोई बहुमत में न हो। यह सिद्धान्त उस प्रकार की स्थिति में कैसे लागू हो सकता है अथवा काम में लिया जा सकता है, जब कि तीन दल हों, जिनमें से एक का भी बहुमत न हो? अतः उस प्रकार की स्थिति में प्रोफेसर के० टी० शाह द्वारा रखी गई शर्त के कारण तो शासन सर्वथा असंभव हो जाएगा।

दूसरी बात, यह मानते हुए भी कि सदन में बहुमत दल है, किन्तु आपातस्थिति है और बहुमत दल तथा अल्पमत दल दोनों की ओर से यह इच्छा प्रकट की जाती है कि आपातकाल की अवधि में दलीय संघर्षों को समाप्त कर देना चाहिए तथा कोई दलीय सरकार नहीं बननी चाहिए, जिससे कि सरकार आपातकाल का सामना कर सके—उस अवस्था में भी ऐसी स्थिति का सामना केवल मिश्रित सरकार बना कर ही किया जा सकता है, और यदि एक मिली-जुली सरकार बनती है तो यह स्पष्ट है कि अल्पमत दल के सदस्यों को मंत्रिमंडल के सदस्य बनने का अधिकार होगा। अतः मेरा निवेदन है कि इन दोनों कारणों से यह संशोधन व्यावहारिक नहीं है।

शिक्षा-संबंधी योग्यता के विषय में, चाहे मेरे मित्र श्री महावीर त्यागी ने साक्षरता विषयक योग्यता के विषय में कुछ भी कहा हो, किन्तु जब मैंने उनसे पूछा कि साक्षरता की योग्यता के विषय में उन्होंने इतने बलपूर्वक अपने विचारों को प्रकट किया इस बात को ध्यान में रखते हुए क्या उन्हें साक्षरता संबंधी योग्यता पर कोई सैद्धान्तिक आपत्ति है, तो उन्होंने मुझे प्रसन्नतापूर्वक यह आश्वासन दिया था कि कोई आपत्ति नहीं है। साथ ही, मुझे आश्चर्य है कि ऐसा कोई प्रधानमंत्री अथवा राष्ट्रपति होगा जो अंग्रेजी न जानने वाले व्यक्ति को नियुक्त करेगा, यह मानते हुए कि अंग्रेजी कार्यकारिणी अथवा संसद के कार्य के हेतु सरकारी भाषा रहती है। मैं ऐसी बात की कल्पना नहीं कर सकता। फर्ज किया सरकारी भाषा हिन्दी, हिन्दुस्तानी अथवा उर्दू, चाहे कुछ भी हो—उस अवस्था में, मैं यह सोचना असम्भव समझता हूं कि कोई प्रधानमंत्री इतना मूर्ख होगा कि वह ऐसे मंत्री को नियुक्त करे जो कि देश की अथवा प्रशासन की सरकारी भाषा को न समझे और यद्यपि

यह बात ध्यान में रखना निस्संदेह वांछनीय है कि जो व्यक्ति प्रशासन के किसी विभाग का कार्यभार संभालेगा, उसकी शैक्षणिक योग्यता उपयुक्त होनी चाहिए, किन्तु मेरे विचार में इस सिद्धान्त को संविधान में रखना अनावश्यक सा है।

जब में तीसरी शर्त को लेता हूं जो यह है कि मंत्रिमंडल का जो सदस्य बने उसे वास्तव में पद ग्रहण करने से पहले अपने हितों, अधिकारों और संपत्तियों की घोषणा कर देनी चाहिये। प्रोफेसर के.टी. शाह के इस संशोधन को कुछ हद तक श्री कामत ने संशोधित किया है। इस विषय पर सदन में वाद-विवाद पहली बार नहीं किया जा रहा है। इस प्रश्न पर उस समय भी बहस हुई थी जब कि राष्ट्रपति की नियुक्ति और शपथ संबंधी अनुच्छेद के विषय में भी ऐसे ही संशोधन पेश किए गए थे, और उस समय मैंने इस पर बहुत कुछ कहा था, और उस अवसर पर मैंने जो कुछ कहा था, मैं उसे यहां दोहराना नहीं चाहता। मेंने मित्र श्री कामत ने मुझे स्मरण कराया है कि सदन में राष्ट्रपति संबंधी अनुच्छेद पर बहस हुई थी तब मैंने क्या कहा था, और मुझे याद है कि मैंने यह अवश्य कहा था कि ऐसा प्रावधान आवश्यक हो सकता है.....*** (व्यवधान)*

मैंने तो यह कहा था कि मंत्रियों के विषय में ऐसा प्रावधान अपेक्षित हो सकता है और मेरे मित्र श्री कामत ने फैक्टरी कानून में से कोई धारा पढ़कर भी सुनाई थी जिसमें फेक्टरी इन्स्पेक्टर के लिए ऐसी ही योग्यताएं अपेक्षित थीं। अब, श्रीमान्, हमें जिस स्थिति पर विचार करना है वह यह है: निस्संदेह, यह अत्यन्त प्रशंसनीय उद्देश्य है कि प्रभारी मंत्रियों को प्रशासन की शुद्धता स्थिर रखनी चाहिए। मैं नहीं समझता कि इस सदन में किसी को भी इस पर आपत्ति हो सकती है। हम सबको इस बात में रुचि है कि प्रशासन उच्च स्तर पर रहे, केवल कुशलता में ही नहीं शुद्धता की दृष्टि से भी। वास्तव में प्रश्न यह है: इस शुद्धता को स्थिर रखने के लिए क्या वैधानिक शक्ति हो? मुझे तो दिखता है कि दो प्रावधान हो सकते हैं। एक तो यह कि हमें कानून अथवा संविधान द्वारा केवल यही बात निश्चित नहीं कर देनी चाहिए कि मंत्रियों को पद ग्रहण करने के समय अपनी संपत्ति और दायित्वों की घोषणा करनी चाहिए, किन्तु हमें दो अन्य प्रावधान भी रखने चाहिएं। एक यह है कि प्रत्येक मंत्री अपना पद छोड़ते समय पदत्याग के दिन अपनी संपत्ति की घोषणा करेगा। जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति, जो यह हिसाब लगाना चाहे कि उसकी

---

*श्री एच.वी. कामत:क्या मैं डाक्टर को स्मरण करा सकता हूं कि उन्होंने शब्दशः क्या कहा था? मैं परिषद् के सचिवालय की सरकारी टाइप-लिपि में पढ़ता हूं। उनके यही शब्द हैं:

"यदि भारत सरकार में किसी व्यक्ति को अपने परिवेक्षण करने का कोई अवसर है, तो वह प्रधान मंत्री को है अथवा राज्य के मंत्रियों को है, और ऐसा प्रावधान उनकी पदावधि के लिये उन पर लगाया जाना चाहिए किन्तु राष्ट्रपति पर नहीं।"

पदावधि में प्रशासन भ्रष्टाचार युक्त था या नहीं, यह देख सकता है कि मंत्री की संपत्ति में कितनी वृद्धि हुई और क्या उस वृद्धि का हिसाब उस बचत में से पूरा किया जा सकता है जो वह अपने वेतन में कर सकता हो। दूसरा प्रावधान यह होगा कि यदि हमें पता लगे कि त्यागपत्र देने के दिन तक मंत्री की सम्पत्ति में जो वृद्धि हुई उसका हिसाब उसकी बचत में से पूरा नहीं बैठ सकता, तो उस मंत्री पर अभियोग लगाने के लिये तीसरा प्रावधान होना चाहिए कि वह इस बात की सफाई पेश करे कि उसने उस अवधि में अपनी सम्पत्ति में असाधारण वृद्धि कैसे कर ली। मेरे विचार में, यदि आप इस खंड को प्रभावी बनाना चाहते हैं तो इसमें मेरे विचार में, तीन प्रावधान होने चाहिएं। एक तो आरम्भ में घोषणा करने का, दूसरा पद छोड़ते समय घोषणा करने का, तीसरा यह बताने के उत्तरदायित्व के विषय में कि वह संपत्ति इतनी असाधारण रुप से कैसी बढ़ी है, और चौथा प्रावधान इसे अपराध घोषित करने का हो जिसमें दण्ड अथवा जुर्माने की व्यवस्था हो। आरम्भ में केवल इतना ही घोषित करना.....। **** (व्यवधान)*

सारी बात ही व्यर्थ है, यह कहना चाहिये। इस संशोधन के बावजूद भी यह किसी मंत्री के लिये सम्भव हो सकता है कि वह उस अवधि में अपनी पूंजी को इस प्रकार से हस्तांतरित कर दे कि किसी को यह पता न लग सके कि उसने क्या किया है, और इस कारण, यद्यपि उद्देश्य प्रशंसनीय है, किन्तु इसके लिए व्यवस्था बहुत अपूर्ण रखी गई है, और मैं कहता हूं कि उपचार कदाचित रोग से भी अधिक भयानक हो सकता है।

*** व्यवधान@*

मैं अपनी बात से बिल्कुल पीछे नहीं हटता। मैं तो बस यही कह रहा हूं कि जिस उपाय का प्रावधान किया गया है वह अत्यन्त अपूर्ण है और प्रभावी नहीं है, और इसलिये मैं इसे स्वीकार करने की स्थिति में नहीं हूं।

*** व्यवधान@ ***

मैं अब ऐसा नहीं कर सकता। जिन्होंने यह संशोधन पेश किया है उनका यह काम था कि इसेसुस्पष्ट और निष्कपट बनाते किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया।

---

*श्री नजरुद्दीन अहमदः आप अदृष्य पूंजी का अथवा गुप्त पूंजी का कैसे पता लगा सकते हैं या उसे कैसे रोक सकते हैं?

@*श्री एच. वी. कामतः क्या श्रीमान् मैं यह समझ लूं कि डाक्टर अम्बेडकर कम से कम सिद्धांत में तो इस संशोधन को स्वीकार करते हैं और कि वे अपनी बात से पीछे नहीं हटे हैं जो उन्होंने परसों कही थी, कि वे वापस नहीं लौटे हैं?

@श्री शिब्बन लाल सक्सेनाः इसे अधिक व्यापक बना दीजिए।

अब, श्रीमान, मैं कह रहा था कि किसी को भी इस संशोधन के उद्देश्य पर कोई आपत्ति नहीं है; किसी को इससे कोई झगड़ा नहीं है। प्रश्न यह है, हम किस प्रकार इस पर रोक लगाएं। जैसे कि मैं कह चुका हूं, कानूनी शक्ति अपर्याप्त है। क्या हमारे पास और कोई शक्ति है ही नहीं? मेरे विवेकानुसार, प्रशासन की शुद्धता को स्थिर रखने के लिये हमारे पास एक अधिक अच्छी शक्ति है, और वह है विधान सभा में एकत्रित और केन्द्रित जनमत की शक्ति। मेरे माननीय मित्र श्री एच.वी. कामत ने फैक्टरी कानून का उदाहरण दिया है। फैक्टरी इन्सपेक्टर के लिये ऐसी निर्योग्यताएं रखने का कारण यह है कि जनमत का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, किन्तु मंत्रिमंडल के विरुद्ध तो जनमत का प्रचण्ड दण्ड सदा सामने रहता है, और यदि सभा चाहे तो किसी समय वह किसी कुशासन पर अपनी सत्ता का प्रयोग करके मंत्रिमंडल को हटा सकता है; और इसलिये मेरा निवेदन यह है कि सभा के मत और प्राधिकार में प्रशासन की शुद्धता को स्थिर रखने की अधिक शक्ति है जिसे किसी बाह्य शक्ति की आवश्यकता नहीं रहती।

अब, श्रीमान्, मैं अपने माननीय मित्र श्री नज़ीरूद्दीन अहमद के संशोधन पर आता हूं। वे मेरे पेश किए हुए संशोधन के उत्तर भाग को हटाना चाहते हैं। उनकी आपत्ति यह है कि यदि मेरे संशोधन का उत्तर भाग रहा तो वह मेरे संशोधन के पूर्वभाग को बेकार कर देगा, जिसमें निदेशपत्र में दिये गये निदेशों पर चलने के मंत्री के कर्तव्यय की चर्चा है। हां, सैद्धान्तिक रूप में तो ऐसा है। वहां भी यही प्रश्न उठता है। हम निदेशपत्र में उल्लिखित आज्ञाओं को कैसे कार्यान्वित करेंगे? इसके दो तरीके हैं। एक तरीका तो यह है कि न्यायालय को इस मामले की जांच करने और इसकी वैधता पर निर्णय देने की अनुमति दी जाये। दूसरा तरीका यह है कि इस मामले को विधान-मंडल पर छोड़ दिया जाये और यह देखा जाये कि वह निन्दा प्रस्ताव द्वारा या अविश्वास प्रस्ताव द्वारा मंत्रिमंडल को बाध्य कर सकता है या नहीं कि मंत्रिमंडल राष्ट्रपति को उचित परामर्श दे और वह अभियोग द्वारा राष्ट्रपति को बाध्य कर सकता है या नहीं कि राष्ट्रपति मंत्रिमंडल के उस परामर्श पर चले। मेरे विवेकानुसार, बाद वाला तरीका हमारे प्रयोजन को सिद्ध करने का अधिक अच्छा तरीका है और यह अनुचित तथा असुविधा जनक होगा यदि सभा की किसी कार्यवाही को न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत कर दिया जाये, जिससे कि कोई भी अड़ियल सदस्य सर्वोच्च न्यायालय में जाकर निषेधाज्ञा द्वारा सभापति को सभा का कार्य चलाने से वर्जित करा सके, जब तक कि वह विशेष मामला सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय द्वारा, जैसी भी स्थिति हो, निश्चित न हो जाये। मुझे दिखाई देता है कि वह तो सभा के कार्य में असह्य बाधा स्वरूप हो जायेगा। इंग्लैंड में भी संसद अपनी कार्यप्रणाली और कार्य वाहन के विषय में न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत नहीं होती, और मेरे विचार में यह बहुत सुचारु नियम है, जिसका हमें अनुसरण करना चाहिये।

विशेषतः जब कि सभा के लिये यह देखना सर्वथा सम्भव है कि निवेश-पत्र का उसी भावना से पालन किया जाये जैसे कि प्रधान और मंत्रिमंडल की इच्छा हो। श्रीमान, मैं इस संशोधन का विरोध करता हूं।

20

नागरिकता संबंधी प्रावधान के संबंध में*

अध्यक्ष, महोदय, संविधान के एक अनुच्छेद के अतिरिक्त अन्य किसी अनुच्छेद से प्रारूप-समिति को इतना सरदर्द नहीं हुआ है जितना इस अनुच्छेद से हुआ है। कितने ही प्रारूप तैयार किये गये और इस कारण रदद् कर दिये गये कि उनके अन्तर्गत वे सब मामले नहीं आ सकते थे, जिन्हें हम उनके अधीन लाना चाहते थे। यह मेरे विचार से एक सौभाग्य की बात है कि प्रारूप-समिति के एकमत से उस प्रारूप को स्वीकार कर लिया जिसे मै पेश कर चुका हूं, और मेरी यह धारणा है कि इस प्रारूप से यदि सब लोग नहीं तो अधिकांश लोग संतुष्ट ही हैं।

श्रीमान् इस अनुच्छेद में नागरिकता किसी सामान्य अर्थ में प्रयुक्त नहीं ही गई है। उससे वह नागरिकता अभिप्रेत है जो संविधान के प्रवर्तन में आने पर प्राप्त होगी। इस अनुच्छेद का उद्देश्य यह नहीं है कि इस देश के नागरिकता के संबंध में एक स्थायी विधि निर्धारित की जाय। नागरिकता के संबंध में स्थायी विधि का निर्माण करने का कार्य संसद को सौंपा गया है। मैं जिस अनुच्छेद 6** को उपस्थित कर चुका हूं, उसकी शब्दावली से सदस्यगण यह अनुभव करेंगे कि संसद को इसकी स्वतंत्रता दी गई है कि वह नागरिकता के संबंध में जैसी भी विधि उचित समझे बनाए अनुच्छेद इस प्रकार है–

> इस भाग के पूर्ववर्ती उपबन्धों में की कोई बात नागरिकता के अर्जन और समाप्ति के तथा नागरिकता से सम्बद्ध अन्य सब विषयों के बारे में उपबंध बनाने की संसद की शक्ति का अल्पीकरण नहीं करेगी।"

अनुच्छेद 6 का प्रभाव यह होगा कि संविधान के लागू हो जाने पर अनुच्छेद 5*** के तथा आगे के उपबंधों के अधीन जो लोग नागरिक घोषित किए जाएं उन से संसद

संविधान सभा वाद-विवाद, खण्ड-नौ, 10 अगस्त, 1949, पृष्ठ 525-28

*अनुच्छेद II

**अनुच्छेद 5

नागरिकता का अधिकार छीन ही नहीं सकती है बल्कि नये सिद्धातों के आधार पर नई विधि का भी निर्माण कर सकती है। जो लोग इन अनुच्छेदों पर होने वाले वाद-विवाद में भाग लेंगे उन्हें इस बात को याद रखना चाहिए। उन्हें यह न समझना चाहिए कि इस संविधान के लागू होने पर नागरिकता के संबंध में हम जिन उपबंधों को रख रहे हैं वे स्थायी अथवा अपरिवर्तनीय हैं। हम केवल इस समय के लिए तदर्थ विनिश्चय कर रहे हैं।

इन शब्दों के पश्चात् मैं सदस्यों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करता हूं कि इस संविधान के प्रवर्तन में आने पर नागरिकता का अधिकार प्रदान करने के लिए प्रारूप समिति ने लोगों के पांच विभिन्न वर्गों के लिये उपबन्ध बनाये हैं और इस अनुच्छेद में उन शर्तों का भी उल्लेख किया है जिन्हें संविधान के प्रवर्तन में आने की तिथि को नागरिकता का अधिकार प्राप्त करने के लिए पूरा करना होगा। ये पांच वर्ग इस प्रकार हैं:

(1) वे लोग जिनका भारत में अधिवास है और जो भारत में जन्मे हैं, अर्थात् इस संविधान में वर्णित भारत के अधिकांश लोग।

(2) वे लोग जिनका भारत में अधिवास है किन्तु जो भारत में नहीं जन्मे हैं, परन्तु वे भारत के निवासी हैं जैसे चन्द्रनगर और पांडुचेरी के भारत में फ्रांसीसी और पुर्तगाल की बस्तियों के लोग, अथवा ईरानी, जो फारस से आए हैं और, यद्यपि वे इस देश में नहीं जन्मे हैं, किन्तु उन्होंने बहुत काल से यहां निवास किया है और इस में कोई सन्देह नहीं है उनकी इच्छा यही है कि वे भारत के नागरिक हो जाएं।

प्रारूप समिति जिन अन्य तीन वर्गों को इस अनुच्छेद की परिधि के अन्दर लाना चाहती है वे ये हैं:

(3) वे लोग जो भारत के निवासी हैं किन्तु जो पाकिस्तान को प्रवजन कर गये हैं;

(4) वे लोग जो पाकिस्तान के निवासी हैं किन्तु भारत को प्रवजन कर गये हैं; और

(5) वे लोग जिनका अथवा जिनके जनकों का जन्म भारत में हुआ था किन्तु जो भारत के बाहर निवास कर रहे हैं।

इन अनुच्छेद के उपबन्धों के अन्तर्गत लोगों के यही पांच वर्ग आते हैं। पहले वर्ग के वे लोग जिनका भारत राज्य-क्षेत्र में निवास है और जो भारत राज्य-क्षेत्र में जन्मे थे

अथवा जिनके जनक भारत-राज्य क्षेत्र में जन्मे थे, अनुच्छेद 5 के खण्ड (क) और (ख) के अन्तर्गत आते हैं, यदि वे उन उपबन्धों की शर्तें पूरा करते हैं तो वे नागरिक समझे जाएंगे।

दूसरे वर्ग के लोग जिनकी ओर मैंने संकेत किया, अर्थात् वे लोग जिन्होंने भारत में निवास किया है किन्तु जो भारत में नहीं जन्मे हैं अनुच्छेद 5 के खण्ड (ग) के अन्तर्गत आते हैं। जिनका संविधान के प्रारम्भ के सद्यः पूर्व कम से कम पांच वर्ष तक भारत राज्य-क्षेत्र में निवास होना चाहिए। इन सब वर्गों के लोगों के लिए यह साधारण परिसीमा है कि इन्होंने स्वयं किसी विदेशी राज्य की नागरिकता प्राप्त न की हो।

अन्तिम वर्ग के लोग, जो भारत के बाहर निवास करते हैं किन्तु जिनका अथवा जिनके जनकों का भारत में जन्म हुआ था, अनुच्छेद 5 (ख) में आते हैं। यह अनुच्छेद उन लोगों के संबंध में है जिनका अथवा जिनके जनकों का अथवा जिनके महाजनकों का जन्म भारत सरकार के 1935 के अधिनियम की परिभाषा के अनुसार भारत में हुआ था और जो साधारणतया भारत के बाहर किसी राज्य-क्षेत्र में निवास करते हैं और जो विदेश में भारतीय कहे जाते हैं। उनके संबंध में केवल यह परिसीमा है कि यदि वे भारत के नागरिक होना चाहते हैं तो वे संविधान के लागू होने से पूर्व भारत सरकार के वाणिज्यिक अधिकारी को अथवा राजनयिक प्रतिनिधि को भारत सरकार द्वारा निर्धारित प्रपत्र पर आवेदन पत्र देंगे और अपने को भारत के नागरिकों के रूप में पंजीबद्ध कर लेंगे। उनके लिए दो शर्तें रखी गई हैं—एक यह है कि वे आवेदन पत्र देंगे और दूसरी यह है कि जिस देश में वे रह रहे हैं वहां पर भारत के वाणिज्यिक अथवा राजनयिक प्रतिनिधि से अपने आवेदन-पत्र को पंजीबद्ध कराएंगे। जैसा कि मैं कह चुका हूं ये बहुत साधारण मामले हैं।

अब मैं उन दो वर्गों के लोगों का उल्लेख करता हूं जो भारत के निवासी थे परंतु पाकिस्तान को प्रवजन कर गये हैं अथवा जो पाकिस्तान के निवासी थे और भारत को प्रवजन कर आए हैं, जो लोग पाकिस्तान से भारत को प्रवजन कर आए हैं उनके संबंध में अनुच्छेद 5 (क)* में उपबन्ध हैं। अनुच्छेद 5(क) के उपबन्ध इस प्रकार हैं—

जो लोग पाकिस्तान से भारत चले आए हैं वे दो वर्गों में विभाजित किए गए हैं:—

(क) जो लोग जुलाई 1948 के 19 वें दिन से पहले चले आए हैं।

(ख) जो लोग जुलाई 1948 के 19 वें दिन के बाद आए हैं।

---

*अनुच्छेद 6

जो लोग 19 जुलाई, 1948 से पहले चले आए हैं वे स्वतः भारत के नागरिक हो जाएंगे।

इन लोगों को भी, जो 19 जुलाई, 1948 के पश्चात आए हैं, संविधान की प्रारम्भ की तिथि पर नागरिकता का अधिकार होगा परन्तु उन्हें एक प्रक्रिया का अनुसरण करना होगा अर्थात् उन्हें भारत डोमीनियन सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारी को आवेदन-पत्र देना होगा और यदि वह अधिकारी उन लोगों को पंजीबद्ध कर दे तो उन्हें नागरिकता का अधिकार प्राप्त हो जाएगा।

पाकिस्तान से भारत आने वाले लोगों के संबंध में संविधान के लागू होने की तिथि से नागरिकता के अधिकार के बारे में निर्णय करने के लिए उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया गया है—एक वर्ग उन लोगों का है जो 19 जुलाई, 1948 से पूर्व चले आए हैं और दूसरा वर्ग उन लोगों का है जो उस तिथि के पश्चात आए हैं। जो लोग 19 जुलाई, 1948 से पूर्व चले आए हैं उन्हें नागरिकता का अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाएगा। उनके संबंध में न कोई शर्तें रखी गई हैं और न कोई प्रक्रिया। जो लोग उस तिथि के पश्चात आए हैं उन्हें एक प्रक्रिया का अनुसरण करना होगा और यदि वे उसकी सभी शर्तें पूरी करते हैं तो प्रस्तावित अनुच्छेद के अधीन उन्हें भी नागरिकता का अधिकार प्राप्त हो जाएगा।

अब मैं उन लोगों के बारे में उल्लेख करता हूं जो पाकिस्तान को प्रव्रजन कर गए थे किन्तु पाकिस्तान न जाने के बाद भारत लौट आए हैं। यद्यपि मुझे इस प्रश्न के संबंध में उतनी जानकारी प्राप्त नहीं है जितनी कि उस विषय से संबंधित मंत्रियों को प्राप्त है, किन्तु हमारा यह प्रस्ताव है कि यदि कोई व्यक्ति पाकिस्तान को प्रव्रजन कर गया हो और वहां जाने के बाद भारत सरकार से अनुज्ञा लेकर भारत लौट आया हो और वह अनुज्ञा भारत में प्रवेश करने के संबंध में ही न हो बल्कि स्थायी रूप से वापिस आने और पुनर्वास के संबंध में भी हो, तो उसे संविधान के प्रवर्तन में आने पर भारत का नागरिक होने का अधिकार होगा। इस प्रकार के उपबन्ध को रखने की इसलिए आवश्यकता पड़ी कि भारत सरकार ने ऐसे लोगों को, जो भारत छोड़ कर पाकिस्तान चले गये थे और बाद को पाकिस्तान से भारत चले आए थे, 'अनुज्ञा प्रणाली' के अधीन भारत में स्थायी रूप से बस जाने की आज्ञा दे दी थी। यह अनुज्ञा प्रणाली 19 जुलाई, 1948 से प्रयोग में आई। इस प्रकार अनुच्छेद (5) ख* के उपबन्ध उन लोगों की नागरिकता के संबंध में है जो पाकिस्तान से चले आने के पश्चात फिर पाकिस्तान चले गये थे और उसके पश्चात भारत लौट आए हैं। उपबन्ध इस प्रकार है कि यदि कोई व्यक्ति पुनर्वास के लिए अथवा स्थायी

---

*अनुच्छेद 8

रूप से लौट आने के लिए अनुज्ञा लेकर चला आया है तो केवल ऐसे ही व्यक्ति को संविधान के प्रवर्तन की तिथि से नागरिकता का अधिकार प्राप्त होगा।

श्रीमान, यह सम्भव नहीं है कि संविधान के प्रवर्तन में आने पर नागरिकता का अधिकार प्रदान करने के संबंध में प्रत्येक मामला इस अनुच्छेद के उपबन्धों के अधीन आ जाय। यदि किसी वर्ग के लोग इस संशोधन में समाविष्ट उपबन्धों के अन्तर्गत नहीं आते हैं तो संसद को यह शक्ति प्रदान की गई है कि वह उनके संबंध में उपबन्ध बनाये। मैं सभा को यह सुझाव देता हूं कि मैंने जिन संशोधनों को प्रस्तुत किया है वे हमारे उद्देश्य की पूर्ति के लिए तथा इस समय के लिए पर्याप्त हैं और मुझे आशा है कि सभा उन्हें स्वीकार कर लेगी।

21

संविधान संशोधन की प्रक्रिया के संबंध में*

अध्यक्ष महोदय, जितने संशोधन यहां पेश किये गये हैं और जितने भाषण यहां दिये गये हैं, उन सब पर बोलना मेरे लिये संभव नहीं है। किन्तु मैं विभिन्न वक्ताओं द्वारा सुझाये गये इस सामान्य विकल्प को लूंगा कि हमें ऐसी व्यवस्था रखनी चाहिए कि संविधान को भावी संसद सामान्य बहुमत से या अनुच्छेद 304** में प्रस्तावित तरीके से कहीं अधिक सरल तरीके से संशोधित कर सकें।

महोदय, अनुच्छेद 304 में समाविष्ट उपबन्धों की व्याख्या करने से पहले, मैं सदन को यह याद दिलाना चाहता हूं कि संविधान को संशोधित करने के विषय में अन्य संविधानों में क्या-क्या उपबन्ध हैं। मैं सब से पहले सदन को यह बताऊंगा कि कनाडा के संविधान में संशोधन का कोई उपबन्ध नहीं है। यद्यपि आज कनाडा एक अधिराज्य है, वह सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य है जिसे प्रभुता के समस्त अधिकार प्राप्त हैं तथा संविधान में परिवर्तन करने की शक्ति प्राप्त है, फिर भी कनाडा वालों ने अब तक यह ठीक नहीं समझा है कि अब भी ऐसा कोई खंड रख दें जिससे कनाडा की संसद को अपने संविधान में संशोधन करने का अधिकार प्राप्त हो जाये। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कनाडा का संविधान 1867 में बना था और किसी के मन में जिसने कनाडीय संविधान पर विभिन्न पुस्तकों को पढ़ा हो, जरा भी संदेह नहीं हो सकता कि कनाडा को संविधान के विभिन्न खंडों पर तथा उसके उपबन्धों के विषय में दिये गये प्रिवी काउन्सिल के निर्वाचन पर भी बहुत असंतोष है किन्तु कनाडा के लोगों ने यह उचित नहीं समझा है कि उन्हें जो शक्ति मिली हुई है उनका प्रयोग करके संविधान में संशोधन करने का कोई खंड प्रविष्ट कर दें।

अब मैं आयरिश संविधान को लेता हूं। उसमें एक उपबन्ध है कि दोनों सदन सामान्य बहुमत से आयरिश संविधान के किसी भाग को बदल सकते हैं या उसका निरसन कर

---

*संविधान सभा वाद-विवाद खंड-नौ, 17 सितम्बर, 1949, पृष्ठ 2618-2623

**अनुच्छेद 368

सकते हैं, पर शर्त यह है कि सदनों का विनिश्चय जनता के समक्ष पेश हो तथा जनता का बहुमत उसका अनुमोदन कर दे।

फिर हम स्विटजरलैण्ड के संविधान को लेते हैं। उस संविधान में भी यह उपबंध है कि विधान मंडल संशोधन विधेयक पारित कर सकता है, किन्तु वह संशोधन तब तक अमल में नहीं आता जब तक दो शर्तें पूरी न हों: वह एक यह है कि केन्टनों में से बहुमत उस संशोधन को स्वीकार कर ले, और दूसरा यह है कि जनमत संग्रह भी हो और जनता का बहुमत उसे स्वीकार कर ले। स्विटजरलैण्ड में संविधान के संशोधन का विधेयक विधान मंडल द्वारा पारित हो जाने मात्र से लागू नहीं हो सकता।

अब मैं आस्ट्रेलिया के संविधान को लेता हूं। वहां के संविधान में यह उपबन्ध है: कि संशोधन आस्ट्रेलिया की संसद में पूर्ण बहुमत से पारित होना चाहिए। फिर उसे उन लोगों के अनुमोदन के लिये पेश किया जाये जो आस्ट्रेलियन संसद की निम्न सभा के लिये प्रतिनिधि चुनने के अधिकारी हैं। फिर उसे जनता या निर्वाचकों का मत जानने के लिये पेश किया जाये। एक और शर्त यह है कि उसे राज्यों का बहुमत स्वीकार कर ले और निर्वाचकों का बहुमत भी।

संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में उपबन्ध यह है कि संशोधन दोनों सदनों के दो तिहाई बहुमत द्वारा स्वीकृत हो और उस विनिश्चय को राज्यों का दो तिहाई बहुमत स्वीकार कर लें। मैंने ये उद्धरण यह सिद्ध करने के लिये दिये हैं कि मैंने जिन देशों का उल्लेख किया है उनके संविधानों में कहीं यह उपबन्ध नहीं है कि संविधान का संशोधन केवल साधारण बहुमत से हो सकता है।

अब मैं अपने संविधान के उपबन्धों पर आता हूं। हम अपने संविधान के संशोधन के विषय में क्या करना चाहते हैं? हम संविधान के विविध अनुच्छेदों को तीन श्रेणियों में विभाजित करना चाहते हैं। एक श्रेणी में वे अनुच्छेद आते हैं जिनका संशोधन संसद सामान्य बहुमत से कर सकती है। दुर्भाग्य से इस बात पर इसलिये ध्यान नहीं दिया गया है कि इस तथ्य का उल्लेख अनुच्छेद 304 में नहीं किया गया है वरन् संविधान के विविध अन्य अनुच्छेदों में किया गया है। मैं उनमें से कुछ का उल्लेख करता हूं। उदाहरण के लिये अनुच्छेद 2 तथा 3 को लीजिए जो राज्यों के विषय में है। जहां तक नये राज्यों के निर्माण का संबंध है या विद्यमान राज्यों के पुनर्गठन का संबंध है, इस काम को संसद सामान्य बहुमत से कर सकती है। इसी प्रकार उदाहरण के लिये अनुच्छेद 148-क* को लीजिए जो प्रान्तों के उच्च सदनों के विषय में है। संसद को पूर्ण स्वतंत्रता

---

*अनुच्छेद 169

दे दी गई है कि वह सामान्य बहुमत से उच्च सदनों को बिल्कुल समाप्त कर सकती है या जिन प्रान्तों में द्वितीय सदन नहीं है वहां बना सकती है। अब अनुच्छेद 213** को लीजिए जो भाग 2 के राज्यों के विषय में है। राज्यों के संविधानों के विषय में, संविधान के मसौदे में यह रखा गया है कि भाग 2 के राज्यों के संविधान की रचना और उनमें रूपभेद करने का काम संसद केवल बहुमत से कर सकती है।

फिर अनुसूची 5 और 6 को लीजिए। उनमें भी संसद को सामान्य बहुमत से संशोधन करने का अधिकार दे दिया गया है। मैं संविधान के असंख्य अनुच्छेदों का उद्धरण दे सकता हूं जैसे कि अनुच्छेद 255*** है, जो अनुदानों और वित्तीय उपबन्धों के विषय में है, जिसमें मामले को संसद द्वारा बनाई गई विधि के अधीन रखा गया है। उपबन्ध ये है "जब तक संसद अन्यथा उपबन्ध न करें"। अतः कई मामलों में—मुझे समस्त संविधान के मसौदे को देखने का समय नहीं मिला है अतः मैं केवल कुछ उदाहरण ही दे रहा हूं—हमने अपने संविधान में इस प्रकार की बातें रखी हैं कि उनमें संशोधन सामान्य बहुमत से हो सकता है। यदि मेरे मित्र, जो यह आलोचना करते हैं कि संसद को संविधान में सामान्य बहुमत से परिवर्तन करने या संशोधन करने की शक्ति होनी चाहिए, कोई ठोस मामला पेश करते और किसी अनुच्छेद या निर्देश देते जो उस श्रेणी में रखना चाहिए तो मसौदा समिति उस मामले पर विचार कर सकती थी इसके बजाय, यह कहना कि समस्त संविधान में बहुमत से परिवर्तन करने की शक्ति संसद को होनी चाहिए, बहुत ऊंचा आदेश है जिसे संविधान का मसौदा बनाने के लिये उत्तरदायी व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकते।

अतएव मैं सर्वप्रथम इस बात पर बल देना चाहता था कि यह कथन बिल्कुल गलत है कि संविधान में ऐसा कोई अनुच्छेद नहीं है जिसे संसद सामान्य बहुमत से संशोधित कर सके। जैसा कि मैंने कहा है कि हमारे संविधान में बहुत से अनुच्छेद हैं जिन्हें केवल सामान्य बहुमत से संशोधित करना संसद के लिये संभव होगा।

अब हमने क्या किया है? हमने संविधान के अनुच्छेदों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर दिया है। पहली श्रेणी में वे अनुच्छेद हैं जिन्हें संसद केवल सामान्य बहुमत से संशोधित कर सकती है। दूसरी श्रेणी में वे संशोधन हैं जिनके लिए दो तिहाई बहुमत आवश्यक है। यदि भावी संसद किसी ऐसे अनुच्छेद का संशोधन करना चाहे जो भाग 3 में या अनुच्छेद 304 में उल्लिखित नहीं है तो उनके लिये

** अनुच्छेद 240

*** अनुच्छेद 275

इतना ही आवश्यक है कि दो-तिहाई बहुमत प्राप्त कर ले। फिर वे उसमें संशोधन कर सकते हैं।

हमने निस्संदेह कुछ अनुच्छेदों को तीसरी श्रेणी में रख दिया है जिसमें संशोधन की प्रणाली कुछ भिन्न है अथवा दुहरी है। उसके लिये दो तिहाई बहुमत के अतिरिक्त राज्यों द्वारा अनुमोदन करवाना आवश्यक है। अब मैं यह समझाऊंगा कि हम ऐसा क्यों समझते हैं। यदि इस विषय में दिलचस्पी रखने वाले सदस्य उन अनुदेशों पर ध्यान दें, जो इस परन्तुक के अन्तर्गत रखे गये हैं, तो वे देखेंगे कि वे अनुच्छेद केवल केन्द्र के विषय में ही नहीं है वरन केन्द्र तथा प्रान्तों के बीच संबंधों के विषय में हैं। हम इस बात को नहीं भूल सकते कि चाहे हमने बहुत सी बातों में प्रान्तीय स्वायत्तता का अतिक्रमण किया है फिर भी हमारी यह इच्छा है तथा हमने इसकी व्यवस्था की है कि संविधान का संघीय ढांचा मूलतः बना रहे। हमने अपनी विधियों द्वारा प्रान्तों को कुछ अधिकार दे दिये हैं तथा केन्द्र के लिये कुछ अधिकार रक्षित किये हैं। हमने विधायी प्राधिकार को विभाजित किया है। हमने कार्यपालिका प्राधिकार को भी विभाजित कर दिया है तथा हमने प्रशासन प्राधिकार को भी विभाजित कर दिया है। स्पष्ट है कि यह कहना कि संविधान के इन अनुच्छेदों को भी, जो कि प्रान्तों की प्रशासनीय, विधायी तथा वित्तीय और कार्यपालिका संबंधी शक्तियों आदि से सम्बद्ध हैं, दो तिहाई बहुमत से बदलने की शक्ति केन्द्र की संसद को दे दी जाये और प्रान्तों या राज्यों को उसमें बोलने का हक न हो, यह कहना तो मेरे विचार में, संविधान के मूलाधिकारों को ही समाप्त करना है। यदि मेरे माननीय मित्र उन अनुच्छेदों को देखेंगे जो परन्तुक में समाविष्ट हैं तो वे देखेंगे कि हमने बहुत ही कम को इसके लिये चुना है। अनुच्छेद 43* राष्ट्रपति के निर्वाचन के विषय में है। अनुच्छेद 44** में राष्ट्रपति के निर्वाचन का तरीका वर्णित है। मसौदा समिति का यह ख्याल था कि चाहे राष्ट्रपति केन्द्र के कामों को ही संभालेगा फिर भी वह संघ भर का प्रधान होगा, अतः उसके निर्वाचन में तथा निर्वाचन के तरीके में केन्द्र को जितनी दिलचस्पी होगी उतनी ही प्रांतों को भी होगी। अतः हमने सोचा कि इस मामले को भी अनुच्छेदों की उसी श्रेणी में रखना चाहिए जिसके लिए प्रान्तों का अनुसमर्थन अपेक्षित है।

अनुच्छेद 60@ तथा 142% को लीजिये। अनुच्छेद 60 संघ के कार्यपालिका प्राधिकार के विस्तार के विषय में है तथा 142 राज्य के कार्यपालिका प्राधिकार के विस्तार

---

*अनुच्छेद 54
**अनुच्छेद 55
@अनुच्छेद 73
%अनुच्छेद 162

के विषय में है। हमने अपने संविधान में यह मूल सिद्धांत रखा है कि कार्यपालिका प्राधिकार विधायी प्राधिकार के बराबर ही विस्तृत होगा। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि संसद को शक्ति दे दी जाये कि वह उपबंधों अथवा अनुच्छेद 60 में विहित सीमा से हट कर अनुच्छेद 60 में परिवर्तन करके अपनी कार्यपालिका सत्ता को बढ़ा सकती है। तो निस्संदेह इससे राज्यों का कार्यपालिका प्राधिकार कम हो जायेगा जो कि अनुच्छेद 142 में परिभाषित है, अतएव हमने यह सोचा कि यह भी मूल बात है और इस पर राज्यों द्वारा अनुमोदन की आवश्यकता होनी चाहिये।

भाग 5 का अध्याय 4 उच्चतम न्यायालय के विषय में है। इसके विषय में कोई संदेह नहीं हो सकता कि उच्चतम न्यायालय ऐसा न्यायालय है जिसमें केन्द्र और प्रान्तों को भी अथवा इस देश के सब एककों तथा प्रत्येक नागरिक को दिलचस्पी है, अतएव यह भी ऐसा मामला है जिसे केवल दो तिहाई बहुमत से संशोधित करने की अनुमति नहीं दी जा सकती। यही बात उच्च न्यायालयों के विषय में है जो भाग 6 के अध्याय 7 में उल्लिखित है।

भाग 9 का अध्याय 1, जो तीसरी श्रेणी में समाविष्ट है, विधायी शक्तियों के वितरण के विषय में है, और (क) इसमें सप्तम अनुसूची की सूचियां हैं। कोई इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि प्रान्तों को इस मामले में मूलतः दिलचस्पी है और उनकी सहमति बिना उन में परिवर्तन नहीं होना चाहिये। इसी प्रकार राज्य परिषद में राज्यों के प्रतिनिधित्व का प्रश्न है जो अनुच्छेद 67 में है।

मेरे विचार में माननीय सदस्य समझ गये होंगे कि मसौदा-समिति ने जो सिद्धांत स्वीकार किये हैं उन पर आपत्ति नहीं की जा सकती, केवल वे ही लोग आपत्ति कर सकते हैं जो चाहते हैं कि संविधान को, उसके प्रत्येक अनुच्छेद को सामान्य बहुमत से बदलना संभव होना चाहिये। जैसाकि मैं कह चुका हूं मैं इस बात को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हूं। संविधान एक आधारभूत दस्तावेज होता है। इसी दस्तावेज द्वारा राज्यों के तीनों अंगों—कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा विधायिका की शक्तियों, तथा स्थिति की परिभाषा की जाती है इसमें नागरिक के प्रति कार्यपालिका तथा विधान मंडल की शक्तियों को भी परिभाषित किया जाता है, जैसे कि हमारे मूलाधिकारों संबंधी अध्याय में किया गया है। वास्तव में संविधान का उद्देश्य केवल राज्य के अंगों का निर्माण ही नहीं है वरन् उनके प्राधिकार को सीमित करना भी है, क्योंकि यदि उन अंगों के प्राधिकार पर कोई सीमा नहीं लगाई जायेगी तो पूर्ण अत्याचार और पूर्ण दमन हो सकेगा। विधान मंडल को कोई भी विधि बनाने की स्वतंत्रता होगी; कार्यपालिका को कोई भी विनिश्चय करने की स्वतंत्रता होगी तथा उच्चतम न्यायालय को विधि का कोई भी निर्वाचन करने की स्वतंत्रता होगी। इससे

अत्यधिक अव्यवस्था होगी। महोदय, यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि संविधान का संशोधन केवल बहुमत से करने का अधिकार दिया जाये। इस भावना पर विचार करने पर मेरी समझ में तीन ही कारण आते हैं। एक कारण यह हो सकता है कि यदि मसौदा-समिति ने ऐसा मसौदा बनाया है जो प्रारूपण की दृष्टि से बहुत खराब हो। मैं उस स्थिति को बिल्कुल समझ सकता हूं।

यदि ऐसा है, तो मैं मसौदा-समिति के सभापति की हैसियत से, और मेरे विचार में मसौदा-समिति के मेरे अन्य साथी भी आपत्ति नहीं करेंगे, यदि यह संविधान सभा कोई अन्य मसौदा-समिति नियुक्त कर दे या बाहर से कोई संसदीय मसौदाकार को बुला ले और उसे यह मसौदा देकर कहे कि इसमें जो त्रुटियां हैं उन्हें ढूंढे तथा उनका सुझाव दे। यह ईमानदारी की प्रक्रिया होगी और मुझे इस पर जरा भी आपत्ति नहीं है।

यदि तर्कों का आधार यह नहीं है, तो दूसरा आधार यह हो सकता है कि यह संविधान गलत सिद्धांतों पर आश्रित है। महोदय, जहां तक इस बात का संबंध है, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक संविधान के दो ही आधार हो सकते हैं। एक आधार तो यह है कि संसदीय शासन पद्धति हो। दूसरा आधार यह है कि निरंकुश या तानाशाही शासन पद्धति हो। यदि हम इस बात से सहमत हैं कि हमारा संविधान तानाशाही पर आधारित न हो तथा ऐसा संविधान हो जिसमें संसदीय लोकतंत्र हो, जहां सरकार की सदा परीक्षा होती रहे, अर्थात् वह जनता के प्रति उत्तरदायी रहे, न्यायपालिका के प्रति उत्तरदायी रहे तो मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि इस संविधान में निहित सिद्धान्त भी किसी अन्य संसदीय संविधान से चाहे अधिक उत्तम न हों, तो उसके समान उत्तम तो हैं ही।

दूसरी युक्ति जो शायद पेश की गई हो—मैं प्रत्येक वक्ता के भाषण को सुन नहीं सका था—यह है कि यह सभा प्रतिनिधित्वपूर्ण नहीं है क्योंकि यह वयस्क मताधिकार के आधार पर नहीं चुनी गई है, कि इस सभा में बहुत से जनसाधारण को प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है। इस के परिणामस्वरूप इस सभा को संविधान बना कर यह कहने का अधिकार नहीं है कि इस संविधान का वही अंतिम मूल्य हो जो अनुच्छेद 304 द्वारा उसे देने का प्रस्ताव है। श्रीमान् यह सच हो सकता है कि यह सभा इस अर्थ में प्रतिनिधि सभा नहीं है क्योंकि इसके सदस्य वयस्क मताधिकार के आधार पर नहीं चुने गये हैं। मैं इस युक्ति को स्वीकार करने के लिये तैयार हूं, किन्तु मैं इस परिणाम को स्वीकार नहीं करता जो इससे निकाला जा रहा है कि यदि यह वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी जाती तो इसमें अवश्यमेव अधिक बुद्धिमत्ता तथा राजनैतिक ज्ञान होता।

****** ****** व्यवधान@ ****** ******

मेरे मित्र श्री नजीरूद्दीन अहमद कहते हैं कि वह तो और भी बुरा होता, और मैं उनसे सहमत हूं। शक्ति और ज्ञान साथ-साथ नहीं रहते। कभी-कभी उनका पार्थक्य होता है और मैं स्पष्ट कह देता हूं कि इस सदन में भावी संसद से अधिक ज्ञान तथा जानकारी है। अतएव मेरा निवेदन है कि मसौदा-समिति द्वारा प्रस्तावित अनुच्छेद सर्वोत्तम है जो इस परिस्थिति में बन सकता था।

22

संविधान सभा में दिया गया समापन भाषण*

महोदय, इस संविधान सभा के पिछले कार्य की ओर ध्यान देने से यह विदित होता है कि जब यह प्रथम बार 9 दिसम्बर, 1946 को समवेत हुई थी तब से अब तक दो वर्ष ग्यारह महीने और सत्रह दिन हो गए हैं। इस बीच संविधान सभा के कुल ग्यारह सत्र हुये। इन ग्यारह सत्रों में से प्रथम छः सत्र लक्ष्यमूलक संकल्प पारित करने और मूलाधिकार, विषयक, संघ संविधान विषयक, संघ की शक्तियों विषयक, प्रान्तीय संविधान विषयक, अल्पसंख्यक-वर्ग विषयक तथा अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जनजातियों विषयक समितियों के प्रतिवेदनों पर विचार करने में लगे। सातवें, आठवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें सत्रों में संविधान के प्रारूप पर विचार हुआ। संविधान सभा के इन ग्यारह सत्रों में 165 दिन लगे। सभा ने इन में से 114 दिन संविधान के प्रारूप पर विचार करने में लगाये।

संविधान सभा ने प्रारूप समिति का निर्वाचन 29 अगस्त, 1947 को किया था। उसकी पहली बैठक 30 अगस्त को हुई। 30 अगस्त से उस की बैठक 141 दिनों तक हुई और इस बीच वह संविधान का प्रारूप तैयार करने में लगी रही। प्रारूप समिति के लिये कार्य करने के लिये संवैधानिक परामर्शदाता द्वारा तैयार किये गये संविधान के मूल प्रारूप में 243 अनुच्छेद और 13 अनुसूचियां थी। प्रारूप समिति द्वारा जिस रूप में संविधान का प्रथम प्रारूप संविधान सभा में पेश किया गया था उस में 315 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियां थीं। विचार-विमर्श पूरा होने पर संविधान के प्रारूप में अनुच्छेदों की संख्या बढ़ कर 386 हो गई। अपने अन्तिम रूप में संविधान के प्रारूप में 395 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियां हैं। संविधान के प्रारूप पर भेजे गये कुल संशोधनों की संख्या लगभग 7635 थी। इन में से सभा में 2473 संशोधन पेश किये गये।

इन तथ्यों का मैंने इसलिये उल्लेख किया है कि एक स्थिति ऐसी आ गई थी जब यह कहा जाता था कि कार्य समाप्त करने में सभा ने बहुत अधिक समय ले लिया, वह

*संविधान सभा वाद विवाद, खंड ग्यारह, 25 नवम्बर, 1949, पृष्ठ 972-981

आराम से चल रही है और लोक-धन का अपव्यय कर रही है। "गांव में आग लग रही है और कहार नाचने में मस्त हैं," की कहावत चरितार्थ हो रही है, ऐसा कहा जाता था। क्या यह शिकायत किसी रूप में भी न्यायसंगत है? आइये हम उस समय पर विचार करें जो अन्य देशों की संविधान सभाओं ने अपना संविधान बनाने में लगाया। इन के कुछ उदाहरण लीजिए। अमरीका में सम्मेलन 25 मई, 1787 को हुआ और 17 सितम्बर, 1787 को उस ने अपना कार्य समाप्त कर दिया—अर्थात् चार माह में। कनाडा का संविधान संबंधी सम्मेलन 10 अक्तूबर, 1864 को हुआ और दो वर्ष पांच माह लगाते हुये मार्च 1867 में वह संविधान विधि के रूप में पारित हुआ। आस्ट्रेलिया का संविधान संबंधी सम्मेलन मार्च, 1891 में हुआ और नौ साल बाद 9 जुलाई, 1900 में संविधान ने विधि का रूप धारण किया। दक्षिणी अफ्रीका का सम्मेलन अक्तूबर, 1908 में हुआ। और एक वर्ष के बाद 20 सितम्बर, 1909 को संविधान ने विधि का रूप लिया। यह सच है कि अमरीका और दक्षिणी अफ्रीका के सम्मेलनों ने जितना समय लिया हम ने उस से अधिक समय लिया है। पर कनाडा ने जितना समय लिया उस से अधिक समय हम ने नहीं लिया है और आस्ट्रेलिया से तो बहुत ही कम समय लिया है। इस कार्य में लगे समय के आधार पर तुलना करने में दो बाते याद रखनी चाहिये। एक यह कि अमरीका, कनाडा, दक्षिणी अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के संविधान हमारे संविधान से बहुत छोटे हैं। जैसा कि मैं कह चुका हूं हमारे संविधान में 395 अनुच्छेद हैं जबकि अमरीका-निवासियों ने सात अनुच्छेद रखे हैं जिन में से प्रथम चार को धाराओं में बांटा गया है जिन की कुल संख्या 21 है, कनाडा के संविधान में 147, आस्ट्रेलिया के संविधान में 128 और दक्षिणी अफ्रीका के संविधान में 153 धारायें हैं। दूसरी बात यह याद रखनी है कि अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका के संविधानों के निर्माताओं को संशोधनों की समस्या का सामना नहीं करना पड़ा। उन को पेश किया हुआ मान लिया गया। इस के विपरीत इस संविधान सभा को 2473 संशोधनों पर विचार करना पड़ा। इन तथ्यों पर ध्यान देते हुये देर लगाने का दोषारोपण मुझे निराधार प्रतीत होता है बल्कि इतने महान और जटिल कार्य को इतने अल्प समय में पूरा करने के लिये इस संविधान सभा को चाहिये कि वह अपने आप को बधाई दे।

श्री नजीरूद्दीन अहमद ने अपना कर्तव्य प्रारूप समिति द्वारा किये गये कार्य की सर्वथा निन्दा करना समझ लिया। उन की सम्मति में प्रारूप समिति द्वारा किया गया कार्य

केवल प्रशंसा न करने के योग्य ही नहीं वरन वह निश्चित रूप से जिस स्तर का होना चाहिये उस स्तर से निम्न श्रेणी का है। प्रारूप समिति द्वारा किये गये कार्य के बारे में अपनी राय कायम करने का प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है और अपनी राय कायम करने के लिये श्री नजीरूद्दीन अहमद का स्वागत है। श्री नजीरूद्दीन अहमद समझते हैं कि प्रारूप समिति के किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा उनमें बुद्धिबल अधिक है। प्रारूप समिति उनके इस दावे को चुनौती देना नहीं चाहती है। इस के विपरीत यदि सभा उनको प्रारूप समिति में नियुक्त किये जाने के योग्य समझती तो प्रारूप समिति उन्हें अपने में पाकर उन का स्वागत करती। यदि संविधान के निर्माण करने में उन्हें कोई स्थान नहीं मिला तो निश्चय ही इस में प्रारूप समिति का कोई दोष नहीं है।

वस्तुतः प्रारूप समिति के प्रति अपनी घृणा प्रकट करने के लिये ही श्री नजीरूद्दीन अहमद ने उस का नया नाम गढ़ा है। वह इसे विषयान्तर करने वाली समिति कहते हैं। श्री नजीरूद्दीन अहमद अवश्य ही अपनी इस सूझ से प्रसन्न होंगे। पर वे यह नहीं जानते हैं कि कौशल सहित विषयान्तर करने और कौशल रहित विषयान्तर करने में अन्तर है। यदि प्रारूप समिति ने विषयान्तर किया तो वह परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये बिना नहीं किया। उस ने अकस्मात् मछली पकड़ने के लिये बंसी नहीं फैंकी। वह जिस मछली के पीछे थी उसे प्राप्त करने के लिये उस ने परिचित जलाशयों में खोज की। किसी अच्छी वस्तु की खोज में लगना विषयान्तर करने जैसी बात नहीं है। यद्यपि श्री नजीरूद्दीन अहमद आशय इस बात को प्रारूप समिति की प्रशंसा के रूप में कहने का न था पर मैं इसे प्रारूप समिति की प्रशंसा के रूप में स्वीकार करता हूं। प्रारूप समिति ने जिन संशोधनों को दोषयुक्त समझा उन को वापस लेने और उन के स्थान में जो संशोधन उस ने अच्छे समझे उन्हें रखने की हिम्मत और सच्चाई यदि न दिखाई होती तो उस पर कर्त्तव्य पालन न करने तथा झूठी मान मर्यादा की भावना रखने का भारी दोष लगता। यदि कोई गलती हुई तो मुझे प्रसन्नता है कि प्रारूप समिति ने उन गलतियों को मानने में आनाकानी नहीं की और उन को सुधारने में वह अग्रसर हुई।

मुझे यह जान कर खुशी हुई कि सिवाए एक सदस्य के प्रारूप समिति द्वारा किये गये कार्य के प्रति संविधान सभा के सदस्यों ने सामान्यतया प्रशंसात्मक भाव प्रकट किये हैं। मुझे विश्वास है कि प्रारूप समिति इस सहज प्रशंसा को देख कर प्रसन्न होगी जो इतने उदार शब्दों में प्रकट की गयी है। इस सभा के सदस्यों द्वारा तथा प्रारूप समिति के मेरे सहयोगियों द्वारा मुझ पर जो बधाइयों की वर्षा की गई है उस के कारण मैं प्रसन्नता से इतना ओत-प्रोत हो गया हूं कि उन के प्रति पूर्णतया अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये मुझे शब्द ही नहीं मिलते। संविधान सभा में अनुसूचित जातियों के हितों की रक्षा कराने के अतिरिक्त मैं अन्य किसी महानतर आकांक्षा को लेकर नहीं आया था। मुझे स्वप्न में भी

सभा में एक गंभीर शिकायत की गई है कि केन्द्रीकरण बहुत अधिक है और राज्यों की स्थिति नगर पालिकाओं जैसी कर दी गई है। यह स्पष्ट है कि यह विचार केवल अतिशयोक्ति ही नहीं है बल्कि यह इस बात के प्रति मिथ्याधारणा पर भी आधारित है कि संविधान यथार्थ रूप में किन किन बातों के लिये प्रयास करता है। केन्द्र और राज्यों में परस्पर सम्बन्ध के विषय में उस मूलाधिकार का ध्यान में रखना आवश्यक है जिस पर यह सम्बन्ध निर्भर करता है। संघीय शासन पद्धति का यह मूलभूत सिद्धान्त है कि विधायी और कार्यपालिका प्राधिकार का विभाजन केन्द्र और राज्यों में केन्द्र द्वारा निर्मित किसी विधि द्वारा नहीं होता अपितु स्वयं संविधान द्वारा किया जाता है। यह संविधान करता है। हमारे संविधान के अधीन राज्य अपने विधायी और कार्यपालिका अधिकार के लिये किसी प्रकार से भी केन्द्र पर आश्रित नहीं हैं। इस विषय में केन्द्र और राज्यों की स्थिति समान है। यह अनुभव करना कठिन है कि ऐसे संविधान को केन्द्रवादी किसी प्रकार कहा जा सकता है। यह हो सकता है कि विधायी तथा कार्यपालिका प्राधिकार के प्रवर्तन के लिये केन्द्र को जितना श्रेय किसी अन्य संघीय संविधान में दिया गया है उस से अधिक श्रेय इस संविधान में दिया गया हो। यह हो सकता है कि अवशिष्ट शक्तियां केन्द्र को दे दी गई हों और राज्यों को न दी गई हों। पर संघीय शासन पद्धति की मुख्य बातें ये नहीं हैं। जैसा कि मैं कह चुका हूं संघीय शासन पद्धति की मुख्य बात यह है कि संविधान द्वारा केन्द्र और एककों में विधायी तथा कार्यपालिका प्राधिकार का विभाजन हो। यह सिद्धांत हमारे संविधान में निहित है। इस बारे में कोई गलती हो ही नहीं सकती। अतः यह कहना गलत है कि राज्य केन्द्र के अधीन रख दिये गये हैं। केन्द्र अपनी स्वेच्छा से उस विभाजन में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता है। ना ही कार्यपालिका कर सकती है। यह ठीक ही कहा गया है:

> "न्यायालय रूपभेद कर सकते हैं पर वे एक के स्थान में दूसरी बात नहीं रख सकते हैं। नये तर्कों के रूप में वे पहले निर्वचनों का पुरीक्षण कर सकते हैं; नये दृष्टिकोण उपस्थित किये जाते हैं, सीमा तक मामलों में वे विभाजन-पंक्ति को इधर-उधर कर सकते हैं, परन्तु कुछ ऐसे अवरोध हैं जिनको वे पार नहीं कर सकते, निश्चित रूप से सौंपी हुई शक्तियों का वे पुनरावंटन नहीं कर सकते। वर्तमान शक्तियों को वे एक व्यापक स्वरूप प्रदान कर सकते हैं, परन्तु किसी प्राधिकार को स्पष्ट रूप में दी गई शक्ति को वे किसी अन्य प्राधिकार को नहीं सौंप सकते हैं।"

अतः केन्द्रीयकरण के संबंध में लगाया गया प्रथम अभियोग जो संघवाद को निर्मूल करता है सिद्ध नहीं होगा।

दूसरा अभियोग यह है कि केन्द्र को राज्यों का दमन करने का अधिकार दिया गया

है। इस अभियोग को स्वीकार कर लेना चाहिये। परन्तु इन दमनकारी शक्तियों के होने के कारण इस संविधान की निन्दा करने से पूर्व कुछ बातों पर ध्यान देना चाहिये। पहली बात यह है कि ये अतिक्रमणकारी शक्तियां इस संविधान का सामान्य स्वरूप नहीं है। उनका प्रयोग और प्रवर्तन स्पष्ट रूप से केवल आपात के लिये ही सीमित है। दूसरी बात यह है: क्या हम आपातस्थिति आ जाने पर केन्द्र को अतिक्रमणकारी शक्ति देने का वर्जन कर सकते थे? जो लोग आपातस्थिति में भी केन्द्र को इन आक्रमणकारी शक्तियों के देने के औचित्य को स्वीकार नहीं करते हैं, वे ऐसा प्रतीत होता है कि, इस विषय के मूल में जो समस्या है उस का स्पष्ट ज्ञान नहीं रखते हैं। "दी राउन्ड टेबुल" प्रसिद्ध पत्रिका के दिसम्बर 1935 के अंक में एक लेखक ने इस समस्या को स्पष्ट रूप में दिया है और उसके निम्नलिखित उद्धरण को उद्धृत करने के लिये मुझे क्षमायाचना की आवश्यकता नहीं है। लेखक कहता है:

> "राजनैतिक पद्धतियां, अधिकारों और कर्तव्यों का समूह है जो अन्ततः इस प्रश्न पर निर्भर करती है कि किस के प्रति या किस प्राधिकारी में नागरिक निष्ठा रखें। शांतिकाल में यह प्रश्न उपस्थित नहीं होता क्योंकि विधि सरलतापूर्वक क्रियान्वित होती रहती है और व्यक्ति कुछ विषयों में एक प्राधिकारी की और कुछ में किसी अन्य प्राधिकारी की आज्ञा पालन करता हुआ अपना कार्य करता चला जाता है। पर संकटकाल में हो सकता है कि प्राधिकार विष्यक दावों में संघर्ष हो जाये और उस समय यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः निष्ठा का विभाजन नहीं हो सकता है। निष्ठा का यह मामला इस अंतिम रूप में किसी न्याय-मंडल के विधि-निर्वचन द्वारा निश्चित नहीं किया जा सकता है। विधि को तथ्य के अनुरूप होना चाहिये और यही विधि का दोष है। जब इन सब बातों को दूर कर दिया जाता है तो केवल यह प्रश्न रह जाता है कि कौन प्राधिकारी नागरिक की अवशिष्टनिष्ठा का अधिकारी है। क्या केन्द्र अधिकारी है या संघटक राज्य?"

इस समस्या का हल इस प्रश्न के उत्तर पर निर्भर करता है जो इस समस्या पर सारभूत प्रश्न है। इसमें संदेह नहीं हो सकता है कि जनता के एक विशाल भाग की सम्मति के अनुसार आपातकाल में नागरिक की अवशिष्ट निष्ठा केन्द्र के प्रति होनी चाहिये न कि संघटक राज्य के प्रति। क्योंकि केन्द्र ही सार्वजनिक लक्ष्य के लिये तथा समूचे देश के सामान्य हित के लिये प्रयत्नशील हो सकता है। आपातकाल में प्रयोग करने के लिये केन्द्र को कुछ अतिक्रमणकारी शक्तियां देने के पक्ष में यह प्रमाण है। और फिर इन आपातकालीन शक्तियों द्वारा संघटक राज्यों पर क्या आभार डाले जाते हैं? इससे अधिक और कुछ नहीं कि आपातकाल में अपने स्थानीय हितों के साथ-साथ समूचे राष्ट्र की

सम्मति और हितों का भी विचार किया जाये। केवल वे ही लोग इसके प्रति शिकायत कर सकते हैं जिंहोंने इस समस्या को समझा नहीं है।

यहां मैं अपना भाषण समाप्त कर देता परन्तु मेरा मस्तिष्क अपने देश के भविष्य विषयक विचारों से इतना परिपूर्ण है कि मैं यह अनुभव करता हूं कि इस अवसर पर इस विषय पर मैं अपने विचारों को व्यक्त करूं। 26 जनवरी, 1950 को भारत एक स्वतंत्र देश होगा उसकी स्वाधीनता का क्या होगा? क्या वह अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर सकेगा या उसे फिर खो देगा? मेरे मन में सर्वप्रथम यह विचार आता है। ऐसी बात नहीं है कि भारत कभी स्वाधीन देश न रहा हो। बात यह है कि एक बार वह अपनी स्वाधीनता को खो चुका है। क्या वह दुबारा भी उसे खो देगा? यही वह विचार है जिस के विषय में भविष्य के प्रति मैं बहुत चिन्तित हूं। जो तथ्य मुझे बहुत परेशान करता है वह यह है कि भारत ने पहले एक बार अपनी स्वाधीनता खोई ही नहीं बल्कि अपने ही कुछ लोगों की कृतघ्नता तथा फूट के कारण वह स्वाधीनता आई गई हुई। मुहम्मद-बिन-कासिम द्वारा सिन्ध पर आक्रमण करते समय राजा दाहर के सेनापतियों ने मुहम्मद-बिन-कासिम के अधिकर्ताओं से घूंस ले ली और अपने राजा की ओर से युद्ध करने से मना कर दिया। वह जयचन्द था जिस ने मुहम्मद गोरी को भारत पर आक्रमण करने और पृथ्वीराज से युद्ध करने के लिये निमन्त्रण दिया और अपनी तथा सोलंकी राजाओं की सहायता का वचन दिया। जब शिवाजी हिन्दुओं की मुक्ति के लिये युद्ध कर रहा था उस समय अन्य मराठा सरदार और राजपूत राजा मुगल बादशाओं की ओर से युद्ध कर रहे थे। जब अंग्रेज सिख शासकों को मिटाने में लगे हुए थे, सिखों का मुख्य सेनापति गुलाबसिंह चुपचाप बैठा रहा और सिख राज्य को बचाने में सहायता न की। 1857 में जब भारत के एक विशाल भाग ने अंग्रेजों के विरुद्ध स्वाधीनता के संग्राम की घोण्णा की तो मूक दर्शकों की भांति सिख खड़े-खड़े तमाशा देखते रहे।

क्या इस इतिहास की पुनरावृत्ति होगी? यही विचार मुझे चिन्ता से भर देता है। इस तथ्य के कारण, कि जाति और मत मतान्तर के रूप में हमारे प्राचीन दुश्मनों के साथ-साथ हम विरोधी राजनैतिक मत मतान्तर के आधार पर कई राजनैतिक पक्ष बनाते चले जा रहे हैं, यह चिन्ता और भी अधिक उग्र रूप धारण कर लेती है। क्या भारतीय मत मतान्तरों को देश से श्रेष्ठ मानेंगे या देश को मत मतान्तरों से श्रेष्ठ मानेंगे? मैं इस बात को नहीं मानता हूं। परन्तु यह सत्य है कि यदि ये पक्षमत मतान्तरों को देश से श्रेष्ठ मानते हैं तो हमारी स्वाधीनता फिर संकट में पड़ जायेगी और संभवतः सदैव के लिए हाथ से जाती रहेगी। इस संकट से हम सब को दृढ़ हो कर रक्षा करनी चाहिये। अपने खून की अंतिम बूंद से अपनी स्वाधीनता की रक्षा करने के लिए हमें दृढ़ प्रतिज्ञ होना चाहिये।

26 जनवरी 1950 को भारत एक लोकतंत्रात्मक देश होगा। इस का यह अर्थ है कि

उस दिन से भारत में जनता के लिये जनता द्वारा जनता की सरकार होगी। वही विचार फिर मेरे मस्तिष्क में आता है। उसके इस लोकतन्त्रात्मक संविधान का क्या होगा? क्या वह इस की रक्षा कर सकेगा या इसे फिर खो देगा। यह दूसरा विचार है जो मेरे मन में उत्पन्न होता है और मुझे पहले विचार की भांति व्यथित करता है।

ऐसी बात नहीं है कि भारत लोकतन्त्र को जानता ही नहीं था। एक समय था जब भारत गणराज्यों से सुसज्जित था और जहां राजा थे वहां भी या तो वे निर्वाचित होते थे या उनके अधिकार सीमित रहते थे। उनको परमाधिकार प्राप्त न थे। यह बात नहीं है कि भारत संसद् या संसदीय प्रक्रिया से परिचित न था। बौद्ध-संघ के अध्ययन से विदित होता है कि केवल संसद् ही नहीं थी-संघ संसद् के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते थे — बल्कि आधुनिक युग में संसदीय प्रक्रिया के जितने भी नियम हैं उन सब से ये संघ परिचित थे। उनके यहां बैठने के प्रबन्ध सम्बन्धी नियम, प्रस्तावों, संकल्पों, गणपूर्ति, सचेतक, मतगण, श्लाका द्वारा मतदान, अविश्वास-प्रस्ताव, व्यवस्था पहले निर्णय हुए अभियोग इत्यादि सम्बन्धी नियम थे। यद्यपि बुद्ध इन नियमों को संघ की बैठकों में लागू करते थे, परन्तु उन्होंने इन नियमों को देश की तत्कालीन राजनैतिक सभाओं में प्रचलित नियमों में से लिया होगा।

भारत से यह लोकतंत्रात्मक व्यवस्था मिट गई। क्या वह फिर इस व्यवस्था को मिटा देगा? मैं नहीं जानता। परन्तु भारत जैसे देश में. जहां लोकतंत्र के एक दीर्घकाल से अप्रयुक्त रहने से यह एक नई सी वस्तु समझी जाती है, संभवतया लोकतंत्र के स्थान में तानाशाही के होने का संकट विद्यमान है। यह बहुत कुछ संभव है कि यह नवजात लोकतंत्र अपना स्वरूप बनाये रखने पर वास्तव में अपने स्थान में तानाशाही की स्थापना कर दे। यदि कोई दुर्घटना होती है दूसरी संभावना के साकार होने की अधिक आशा है।

यदि हम लोकतंत्र को केवल स्वरूप में ही नहीं बल्कि यथार्थ में भी बनाये रखना चाहते हैं तो हमें क्या करना चाहिये? मेरे विचारानुसार सब से पहले हमें यह करना चाहिये कि अपने सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हम संवैधानिक रीतियों को दृढ़तापूर्वक अपनायें। इसका अर्थ यह है कि क्रान्ति की निर्मम रीतियों का हम परित्याग करें। इसका तात्पर्य यह है कि हमें सविनय अवज्ञा, असहयोग और सत्याग्रह की राह छोड़ देनी चाहिये। आर्थिक तथा सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये जब कोई मार्ग न रहे तब तो इन असंवैधानिक रीतियों का अपनाना बहुत कुछ न्यायपूर्ण हो सकता है। परन्तु जब संवैधानिक रीतियों का मार्ग खुला है तो इन असंवैधानिक रीतियों का अपनाना कभी न्यायसंगत नहीं हो सकता है। ये रीतियां अराजकता के सूत्रपात के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और जितना शीघ्र इनका परित्याग किया जाये उतना ही हमारे लिये अच्छा है।

दूसरी बात जो हमें करनी है वह यह है कि हम उस सावधानी को बरतें जो जोन स्टूआर्ट मिल ने उन सब को बरतने के लिये कहा है जो लोकतंत्र को बनाये रखने में रुचि रखते हैं, वह यह है कि किसी भी महान व्यक्ति के चरणों में अपने स्वातंत्र्य को चढ़ा न दें या उसे वे शक्तियां न सौंपें जो उसे उन्हीं की संस्थाओं को मिटाने की शक्ति दे।। उन महान व्यक्तियों के प्रति, उन्होंने जीवन पर्यन्त देश की सेवा की हो, कृतज्ञ होने में कोई बुराई नहीं है। पर कृतज्ञता की भी सीमाएं हैं। आयरलैंड के देशभक्त होनियल ओ कोनेल ने उस विषय में यह ठीक ही कहा है कि अपने सम्मान को खोकर कोई पुरुष कृतज्ञ नहीं हो सकता, अपने सतीत्व को खोकर कोई स्त्री कृतज्ञ नहीं हो सकती, और अपने स्वातन्त्र्य को खोकर कोई राष्ट्र कृतज्ञ नहीं हो सकता। किसी अन्य देश की अपेक्षा भारत के लिये यह चेतावनी अधिक आवश्यक है। योंकि भारत में भक्ति या जिसे भक्ति मार्ग या वीर पूजा कहा जाता है उसका भारत की राजनीति में इतना महत्वपूर्ण स्थान है जितना किसी अन्य देश की राजनीति में नहीं है। धर्म में भक्ति, आत्म-मोक्ष का मार्ग हो सकती है पर राजनीति में भक्ति या वीर पूजा पतन तथा अन्ततः तानाशाही का एक निश्चित मार्ग है।

तीसरा काम जो हमें करना है वह यह है कि केवल राजनैतिक लोकतंत्र से ही हमें संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। अपने राजनैतिक लोकतंत्र को हमें सामाजिक लोकतंत्र का रूप भी देना चाहिये। राजनीतिक लोकतंत्र सदैव नहीं बना रहता है यदि उसका आधार सामाजिक लोकतंत्र न हो। सामाजिक लोकतंत्र का क्या अर्थ है? इसका अर्थ जीवन के उस मार्ग से है जो स्वातंत्र्य, समता और बंधुत्व को जीवन के सिद्धांतों के रूप में अभिज्ञात करता है। स्वातन्त्र्य, समता और बंधुत्व के इन सिद्धांतों को इन तीनों के एक संयुक्त रूप से पृथक-पृथक मदों के रूप में नहीं समझना चाहिये। इन तीनों को मिलाकर एक इस प्रकार का सयुंक्त रूप बनता है कि एक का दूसरे से विच्छेद करना लोकतंत्र के मूल प्रयोजन को ही विफल करना है। स्वातन्त्र्य को समता से पृथक नहीं किया जा सकता, समता को स्वातन्त्र्य से पृथक नहीं किया जा सकता और न ही स्वातन्त्र्य या समता को ही बंधुत्व से पृथक किया जा सकता है। समता विहीन स्वातन्त्र्य से कुछ व्यक्तियों के अनेक व्यक्तियों पर प्रभुता का प्रादुर्भाव होगा । स्वातन्त्र्य विहीन समता व्यक्तिगत उपक्रम का ह्रास करेगी। बंधुत्व के बिना स्वातन्त्र्य और समता अपना स्वाभाविक मार्ग ग्रहण नहीं कर सकते। उनको प्रदत्य करने के लिये सिपाही की आवश्यकता है। यह तथ्य स्वीकार करते हुये हमें कार्यारंभ करना चाहिये कि भारतीय समाज में दो बातों का पूर्णतया अभाव है। इनमें से एक समता है। सामाजिक स्तर पर हमारे भारत में हमारा एक ऐसा समाज है जो क्रमानुसार निश्चित समता के सिद्धांत पर आश्रित है जिसका अर्थ कुछ व्यक्तियों की उन्नति और कुछ का पतन है। आर्थिक स्तर पर हमारा एक ऐसा समाज है जिस में कुछ लोग ऐसे हैं जिनके पास अतुल संपत्ति है

और कुछ ऐसे हैं जो निरी निर्धनता में जीवन बिता रहे हैं। 26 जनवरी, 1950 को हम विरोधी भावनाओं से परिपूर्ण जीवन में प्रवेश कर रहे हैं। राजनैतिक जीवन में तो हमारे यहां समता होगी और सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में असमता। राजनीति में हम एक व्यक्ति के लिये एक मत और एक मत का एक ही मूल्य के सिद्धांत को मानेंगे। अपने सामाजिक और आर्थिक जीवन में अपनी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के कारण एक व्यक्ति का एक ही मूल्य के सिद्धांत का हम खंडन करते रहेंगे। इन विरोधी भावनाओं से परिपूर्ण जीवन को हम कब तक बिताते चले जायेंगे? यदि हम इसका बहुत काल तक खंडन करते रहेंगे तो हम अपने राजनैतिक लोकतंत्र को संकट में डाल देंगे। हमें इस विरोध को यथासंभव शीघ्र मिटा देना चाहिये अन्यथा जो असमता से पीड़ित हैं वे लोग इस राजनैतिक लोकतंत्र की उस रचना का विध्वंस कर देंगे जिसका निर्माण इस सभा ने इतने परिश्रम के साथ किया है।

एक दूसरी बात जिसका हमारे यहां अभाव है वह है बंधुत्व के सिद्धंत को मान्यता। बंधुत्व से क्या अभिप्राय है? बंधुत्व से अभिप्राय समस्त भारतवासियों में भाईचारे की भावना से है—यदि भारतवासी सब एक हैं तो। वह यह सिद्धंत है जो सामाजिक जीवन को एकता तथा दृढ़ता प्रदान करता है। इसको प्राप्त करना कठिन है। यह कितना कठिन है इसका अनुमान जेम्स ब्राइस की उस कहानी से लगाया जा सकता है जिसका कि उन्होंने सयुंक्त राज्य अमरीका के बारे में अमरीका कामनवैल्थ विषय पर अपनी एक कृति में किया है वह कहानी यह है- मैं स्वयं ब्राइस के शब्दों में इसे कहना चाहता हूं:

> कुछ वर्ष पूर्व अमरीका का प्रोटेस्टेन्ट एपिस्कापल गिरजाघर अपने त्रैवार्षिक सम्मेलन में अपनी पूजा की पद्धति के पुनरीक्षण में संलग्न था। यह वांछनीय समझा गया कि छोटे-छोटे वाक्यों की प्राथनाओं में एक प्रार्थना समस्त जनता के लिये भी लागू की जाए और एक प्रसिद्ध नये इंगलैंड के पुजारी ने ये शब्द प्रस्थापित किये "हे ईश्वर हमारे राष्ट्र को आशीवार्द दे। दोपहर बाद तत्क्षण स्वीकार करने के पश्चात् इस वाक्य को दूसरे दिन पुनर्विचार के लिये प्रस्तुत किया गया और उस समय जन साधारण ने इस शब्द "राष्ट्र" पर राष्ट्रीय एकता के बहुत ही अधिक निश्चित अभिस्वीकरण के रूप में अर्थ लगाते हुये इतनी आपत्तियां उठाई कि उस शब्द को छोड़ना पड़ा और ये शब्द रखने पड़े "हे ईश्वर इन संयुक्त राज्यों को आशीर्वाद दीजिये।"

संयुक्त राज्य अमरीका में उस समय जब यह घटना हुई थी, इतना कम ऐक्यभाव था कि अमरीका के लोग यह नहीं समझते थे कि वे एक राष्ट्र हैं। यदि संयुक्त राज्य अमरीका के लोग यह नहीं सोच सकते थे कि उनका राष्ट्र है तो भारतवासियों के लिये यह सोचना कितना कठिन है कि उनका एक राष्ट्र है। मुझे वे दिन याद हैं जब राजनीति में

सुविख्यात सांसद मोनोग्राफ सीरीज

डा0 बी॰आर॰ अम्बेडकर
का
शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	के स्थान पर	पढ़िए ।
1	11 {नीचे से}	पंक्ति के आरंभ में	"महार समुदाय" शब्दों का लोप करें ।
1	3 {नीचे से}	भीमवार	भीमराव
23	14	भागीरथी	भगीरथ
37	नीचे से 6	व्यक्तिस्म	व्यक्तिगत स्म
41	नीचे से 15	जनता द्वारा सरकार	जनता द्वारा चुनी गई सरकार
47	6	याज्ञवल्वय	याज्ञवल्क्य
48	नीचे से 4	अतः	और
72	12	इस प्रश्न पर जयकर रखने के लिए	इस प्रश्न पर अपना पक्ष रखने के लिए
73	14	अवचार	विचार
81	10	खासियों	निवासियों
84	12	की सिमांत	ही सीमित
85	5	देर	दूर
88	नीचे से 3	वृंद	बुंद
91	10	इस	एक
91	नीचे से 5	"सवांधिक के" पश्चात "आलोचना" जोड़े	
98	1	अटलबाजी	अटकलबाजी
122	14	उत्कण्ठा से में"	"उत्कण्ठा से अमल में
127	11	मेंनें	मेरे
145	18	अहमद आशय	अहमद का आशय
150	23	पुरीक्षण	पुनरीक्षण